श्रीखरतर-गच्छालंकार-नवांगवृत्तिकार-अभयदेवसूरिशिष्य-

जिनवल्लभसूरिविरचितं

नरसुन्दरगणिकृतावचूरिसमलङ्कृतं

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

विद्वद्वर्य-विमलकीर्तिगणिविरचितेन मेघदूतान्त्यपादसंग्रथितेन

चन्द्रदूत-काव्येन

वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिप्रणीतेन

विद्वत्प्रबोधशास्त्रेण

च समलंकृतम् ।



वि. सं. २००९

मुद्रणस्थल—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,

प्रकाशक—श्रीजिनदत्तसूरि-ज्ञानभंडार, मु० सुरत.

श्रीजिनदत्तसूरिप्राचीन-पुस्तकोद्धार-फण्ड (सुरत) ग्रन्थाङ्कः—६२

श्रीस्तंभनपार्श्वनाथाय नमः ॥

श्रीखरतर-गच्छालंकार-नवांगवृत्तिकार-अभयदेवसूरिशिष्य-

जिनवल्लभसूरिविरचितं

नरसुन्दरगणिकृतावचूरिसमलङ्कृतं

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

विद्वद्वर्य्य-विमलकीर्तिगणिविरचितेन मेघदूतान्तपादसंग्रथितेन

चन्द्रदूत-काव्येन

वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिप्रणीतेन

विद्वत्प्रबोधशास्त्रेण

च समलंकृतम् ।

तच्च

जैनाचार्य-श्रीजिनकृपाचंद्रसूरिशिष्य-उपाध्याय-श्रीसुखसागर-

मुनिवरोपदेशात् बालाघाट-आदिनगरनिवासि-श्राद्धवर्यै-

र्विहितेन द्रव्यसाहाय्येन प्रकाशितम् ।

प्रकाशक—

श्रीजिनदत्तसूरि-ज्ञानभंडार, मु० सुरत,

मुद्रणस्थल—

निर्णयसागर प्रेस, २६।२८ कोलभाट स्ट्रीट, बम्बई, नं. २

सं० २००९] भेंट [प्रति ५००

इस ग्रंथके द्रव्यसाहायक महाशयोंकी नामावलीः—

रु. २५०) महासमुद निवासी श्रीसंघ—ज्ञानखातेसे
हस्ते हणुतमलजी पींचा, महासमुद

रु. २००) भभूतमलजी भीखमचंदजी चोरडीया, मु० बालाघाट,

१५०) समरतमल रतनलालजी चतुर्मुता, मु० बालाघाट,

१२५) फूसमलजी सेठीया धर्मपत्नी चांदाबाई, मु० बालाघाट,

१०१) सद्गृहस्थद्वारा, मु० + + +

१००) भानचन्दजी सुराना ध० चमेलाबाई, मु० बारासीवनी,

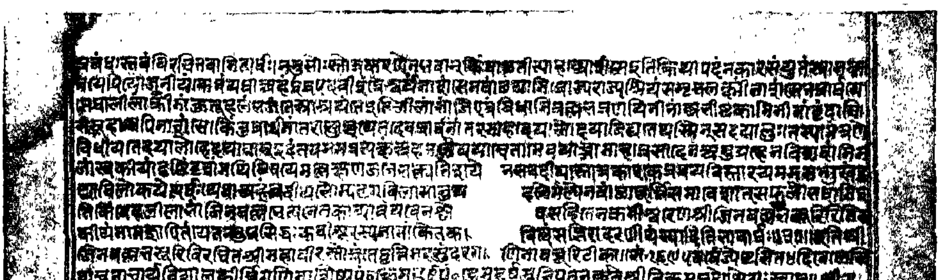
६०) उदयचंदजी बोरा ध० आमीबाई, मु० बालाघाट,

५१) नथमलजी कोचर ध० सौ० पानबाई मु० बालाघाट,

२५) भेरुंदानजी सेठीया ध० सोनीबाई, मु० बालाघाट,

१५) सद्गृहस्थद्वारा, मु० बालाघाट.

श्रीजिनवल्लभसूरिरचित-महावीरस्तोत्रमूलादर्शस्य छायाचित्रम् ले. सं. १६९५।



मुद्रकः—लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी, नि. सा. प्रेस, २६।२८ कोलभाट, स्ट्रीट, बम्बई. २
प्रकाशकः—श्रीजिनदत्तसूरिज्ञानभंडार, कार्यकर्ता—फकीरभाई पानाभाई झवेरी, गोपीपुरा,—सुरत.

प्रस्तावना

श्रमण-परम्पराके उज्ज्वल अतीतावलोकनसे स्पष्ट हो जाता है कि जैन-श्रमणोंने साहित्यकी उभय शाखाओंका–विकास क्या लोकभोग्य क्या विद्वद्भोग्य–पांडित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना कर, जो योग दिया है, वह उल्लेखनीय है। भारतीय भाषा और साहित्यिक गतिके निर्देशमें वे कदापि पश्चात् पद नहीं रहे। साहित्यके आलोचक और इतिहासज्ञ कभी कभी अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण कह दिया करते हैं कि जैन साहित्यका प्रवाह केवल धर्ममूलक ही है। यह उक्ति सर्वांशतः सत्य नहीं है। साहित्यकी सबसे बडी समस्या है–मानवका विकास। अतः इसके हल करनेमें जैन मुनियोंने अगाध श्रम किया है और मानवको उच्चतम धरातल पर पहुँचानेवाली नैतिक परम्पराओंकी सृष्टि की है। इसे भले ही धर्ममूलक कहें। पर उनका दृष्टिकोण अतिव्यापक बहुजनहिताय था, जैसा कि उनकी गंभीर साधनासे ज्ञात होता है। प्रस्तुत ग्रन्थत्रयीमें प्रकाशित ग्रन्थ उपर्युक्त पंक्तियोंकी सार्थकता सिद्ध करते हैं।

महावीरस्तोत्र, चन्द्रदूत और **विद्वत्प्रबोध** तीनों दीर्घकालव्यापी साधनाकी सिद्धिके फल हैं। तीनोंकी दृष्टि भिन्न है। तीनोंमें उनके रचयिताओंने अपनी पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभाका सुपरिचय दिया है। वे सब सरस्वती-मंदिरके अनन्य उपासक प्रतीत होते हैं, उनकी तपश्चर्या, वाणी इन कृतियोंमें मुखरित हुई है। जैन साहित्यका मुख उज्ज्वल करनेवाली त्रिपुटीका वास्तविक परिचय तो तलस्पर्शी मनन पर निर्भर है।

महावीरस्तोत्र–आचार्य श्री **जिनवल्लभसूरिजी** द्वारा रचित है, जो वि. सं. ११२५-११६७ तक विद्यमान थे। इनके समयमें पश्चिम भारतका बहुतसा भाग चैत्यवासियोंके प्रभावसे प्रभावित था। सूरिजीने अपनी विद्वत्ता और उत्कृष्ट त्याग व तपोबलसे उनको परास्त कर, कई नगरोंमें सुविहित परम्परा कायम की। सर्वथा विपरीत वायुमंडल में आपने जैन संस्कृतिकी जो सेवा की है, वह अमूल्य है। यह सेवा सामयिक ही नहीं थी, पर आगे चल कर सुदृढ़ परम्परा बन गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम भारतमें चैत्यवासियोंको बिदा लेनी पडी। अतिपरितापके साथ सूचित करना पड रहा है, कि जिस पश्चिम भारतमें चैत्यवासकी इस दुष्परम्परा को नष्ट करनेके लिए सुविहित मार्गावलम्बियोंको न जाने कितने कष्ट और अगणित यातनाओं का सामना करना पडा था, आज उसी देशके एक भाग गुजरातमें मठावास बुरी तरहसे पनप रहा है और वह भी सुविहित परम्परा के नामपर!।

महावीरस्तोत्रप्रणेता श्री **जिनवल्लभसूरि** स्वयं पूर्व चैत्यवासी जिनेश्वराचार्यके शिष्य थे; आसिका दुर्गवासी पर नवांगवृत्ति निर्माता श्री अभयदेवसूरि के पास जब आपने जैनदर्शन और सैद्धान्तिक विषयोंका गहन अध्ययन किया तब आपको जैनोंकी मुनिमार्ग सहायक आचार विषयक परम्पराका यथार्थ ज्ञान हुआ। फलस्वरूप चैत्यवासी परम्पराका त्याग कर विधिमार्ग स्वीकार किया और आत्मिक साधनाके साथ दूषित परम्पराको नष्ट करनेके लिये उत्साहके साथ जीवनको लगा दिया। आपने अपनी साधनाका सक्रिय परिचय चित्रकूट-चित्तौड में दिया, जब विधिचैत्यकी स्थापनाके समय चैत्यवासियोंने बडा आन्दोलन मचा रखा था। ५०० लठैत मारने तक आये थे। पर आप अपनी समत्व–भावनासे सब सहते गये। **संघपट्टक** नामक आपकी कृति (जो हमारी ग्रन्थमाला में प्रकट हो चुकी है) इसी विधिचैत्य में शिलापर खुदवादी गई थी।

प्रस्तुत महावीरस्तोत्र संभवतः चित्तौडमें ही विधिचैत्यके स्थापना समय रचा गया होगा। इसकी रचना बड़ी भावपूर्ण है। प्रत्येक श्लोकमें उनका पाण्डित्यपूर्ण कवित्व व चिन्तन परिलक्षित होता है। प्राकृत और संस्कृत भाषामय आपकी औरभी स्तुत्यात्मक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं जिनसे ज्ञान होता है, कि दोनों भाषाओंपर आपका समान अधिकार था। सीमित शब्दावलीमें गंभीर भावोंका व्यक्तीकरण ही आपकी असामान्य विशेषता है। पिण्डविशुद्धि आदि सब मिलाकर दो दर्जनसे अधिक रचना आपने माता सरस्वती को भेंट की है।

गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्ति, खरतरगच्छपट्टावली और युगप्रधानाचार्यगुर्वावली आदि ग्रन्थोंमें प्रशस्त आपका जीवन वर्णित है।

अवचूरिके प्रणेता श्री नरसुन्दर गणिका वैयक्तिक परिचय प्रयत्न करने परभी प्राप्त न हो सका। लेखन पुष्पिकासे इतना ही पता चलता है, कि वे वि. सं. १६९५ के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। उनकी संस्कृतसाहित्यमें अच्छी गति थी, जैसा कि अवचूरि से ज्ञात होता है।

दूतसाहित्य—संस्कृत साहित्यमें दूतकाव्योंका स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ऋग्वेद (१०।१०८) रामायण (४।४४ व ५।४०) महाभारत (३।५३।१–२) और जातकों में दूतसाहित्यके बीज पाये जाते हैं। परन्तु इस साहित्यका पूर्ण परिपाक तो मेघदूतमें ही हुआ है। इसे दूतोंका आदिकाव्य कहें तो अत्युक्ति न होगी। इसका प्रचार न केवल भारतमें ही था पर भारतेतरवासी भी इससे परिचित थे। परवर्ती साहित्यकार और प्रतिभासम्पन्न कवियोंने मेघदूतकी परम्पराका न केवल पालन ही किया अपितु अपने काव्योंमें उसका अन्तिम पाद भी सम्मिलित कर दिया। हाँ, भावोंमें परिवर्तन अवश्य किया। संस्कृत और देश्य भाषामें गुम्फित दूतकाव्योंकी संख्या अद्यावधि ५४ तक पहुँची है। इनमेंसे बहुतोंका उल्लेख श्री. चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने अपने संस्कृतमें दूतकाव्य साहित्यका विकास और विकास शीर्षक निबंधमें (जैनसिद्धान्तभास्कर भा. २, अं. २) किया है। तदनन्तर गवेषणा करने पर और भी दूत-काव्य उपलब्ध हुए, चन्द्रदूत उन्हींमेंसे एक है। संभव है पुरातन ज्ञानभंडारों में खोजनेपर और भी काव्य मिल जाँय।

अद्यावधि उपलब्ध दूतकाव्योंसे विदित होता है, कि मुख्यतः ऐसे काव्योंमें विरहकी व्यथा ही वर्णित रहती है। चाहे वह सांसारिक हो या भक्तिमूलक हो। कुछ-एक काव्य विज्ञप्ति पत्रात्मक रूपभी उपस्थित करते हैं। तात्पर्य, कि अपनी अनुभूति किसी न किसी माध्यम द्वारा सरसतापूर्वक व्यक्त करनेका प्रयास ही प्रधान रहता है। अपने आराध्य, उपास्य और पूज्यको लिखे गये पत्र व संदेश भी इनमें ग्रथित हैं।

जहाँतक सांसारिक भावनाप्रधान दूतकाव्योंका प्रश्न है, वैदिक धर्मावलम्बियोंने इसपर अपनी लेखिनी खूब चलाई है। त्यागप्रधान जीवन में पूर्ण विश्वास करने वाली श्रमण-जैन-परम्परामें भी दूत काव्योंका विकास हुआ पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था। वर्णनका ढंग भले ही पारम्परिक काव्यपरम्पराका अनुधावन करता हो पर भाव और शैली अपनी थी। श्रमणोंने अपनी संस्कृतिके तत्त्व ऐसे काव्योंमें सुग्रथित किये, मेघदूतका अन्तिमपद कई जैनकवियोंने अपने काव्योंमें रखा, पर भाव और अर्थ अपने अनुकूल रखे। आठवीं शतीसे ऐसे प्रयत्न प्रारंभ हो चुके थे। उत्तरवर्ती कवियोंने भी ठीक वैसा ही किया। वे अपने गुरुओंको जो पत्र भेजते थे उनमें अपनी काव्यछटा किसी प्रतीक द्वारा व्यक्त कर संतुष्ट होते थे। दूतकाव्योंमें यह जैनोंका सर्वथा नवीन प्रयोग है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं। भौगोलिक दृष्टिसे तो ऐसे काव्योंकी उपयोगिता सर्वविदित ही है। जैनमुनियोंका भौगोलिक ज्ञान किताबी न होकर अनुभवजन्य था।

जैनोंद्वारा निर्मित दूतसाहित्य विषयक काव्योंमें से कुछ-एक ये हैं-इन्दुदूत, जैनमेघदूत, नेमिदूत, मेघदूत-समस्यालेख, शीलदूत, चन्द्रदूत, चेतोदूत आदि। कवि अब्दुल रहमान कृत संदेशरासक पर जैनमुनिकी लक्ष्मीचंद्रकी अवचूरि भी पाई जाती है।

चन्द्रदूत-अनुभूतिका सफल व्यक्तिकरण ही कविता है। चन्द्रदूत पर यह पंक्ति सोलहों आना चरितार्थ होती है। यह काव्य मेघदूतकी पादपूर्तिमें रचा गया है। कविने कहीं कहीं भाव स्पष्टीकरणार्थ अधिक श्लोक रच कर, स्वतंत्रतासे भी काम लिया है। इसकी श्लोकसंख्या १६९ है। अनेकार्थसाहित्यकी दृष्टि से भी इस दूतकाव्यका महत्त्व है। इसकी रचना वि. सं. १६८१ में **विमलकीर्ति** नामक जैन मुनिने की है। इसका वर्ण्यविषय यही है, कि कविने चन्द्रको सम्बोधित कर गिरिराज-सिद्धक्षेत्र-शत्रुंजयतीर्थमें नाभेय जिनको अपनी वंदना कहलाई है। परन्तु पूर्ण काव्य पढ़नेके बाद यह ज्ञात नहीं हो सका कि किस स्थानसे कविने अपने नमस्कार चन्द्रमासे कहलवाये हैं, इसकी रचना बड़ी भावपूर्ण और विद्वत्ताकी परिचायक है।

इसके रचयिता **विमलकीर्ति**, **साधुकीर्ति** उपाध्याय के शिष्य साधुसुन्दर[1] के शिष्य थे। इनकी ये कृतियाँ अद्यावधि उपलब्ध हो चुकी हैं-चन्द्रदूत (जो प्रकाशित हो चुका है आपके करकमलोंमें है) पदव्यवस्था, दशवैकालिक-सूत्र टबार्थ, पाक्षिकसूत्र टबार्थ, जयतिहुअणबालावबोध, प्रतिक्रमणसामाचारी बालावबोध, जीवविचार बालावबोध, नवतत्त्वबालावबोध, दंडक बालावबोध, जोधपुर-मंडन-पार्श्वजिनस्तवन, पंचप्रतिक्रमण विधिस्तवन और अन्य मुक्तक पद्य। आपकी समस्त कृतियों में चन्द्रदूत ही सर्वश्रेष्ठ और मौलिक कृति जँचती है।

विद्वत्प्रबोध-अपने ढंगकी विलक्षण रचना है। इसके रचयिता **श्रीवल्लभ** उपाध्याय हैं। इस शैलीकी रचना अन्यत्र अद्यावधि अवलोकनमें नहीं आई। इस ग्रन्थमें कविने अपना प्रगाढ़ पाण्डित्य प्रदर्शित कर सचमुचमें विद्वत्प्रबोधक प्रमाणित हुए हैं। तीन परिच्छेदोंमें इसकी समाप्ति हुई है। कविने वर्णमालाके अक्षरानुसार श्लोक प्रारंभ किया है। अश्व, वृषभ, उष्ट्र, शुक, तीतर, हंस, बक, चक्रवाक, सारस, टिट्टिभ, मयूर और चापका भावपूर्ण वर्णन कर तृतीय परिच्छेदमें साधु और वीरपुरुषका वर्णन किया है। इस ग्रन्थमें कविका कोष, अनुप्रास, व्याकरण और काव्यविषयक गंभीर ज्ञान परिलक्षित होता है। कविकी रुचि भी बड़ी विचित्रसी लगी कि एक जैन मुनिने अपना पांडित्य प्रदर्शित करनेके लिये पशु-पक्षियोंको चुना। पाश्चात्य लेखक अकसर कहा करते हैं कि भावोंके व्यक्तिकरणके लिये किसीभी प्रतीक को चुना जा सकता है। विद्वत्प्रबोध इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्रीवल्लभ उपाध्याय का मित्रमण्डल भी विविधरुचिसम्पन्न जान पड़ता है। '**विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां संजातायां प्रयोजनम्**' इस पंक्तिसे विदित होता है, कि इस ग्रन्थकी रचना स्वाभाविकरूपसे विद्वानोंकी सभाओंमें प्रयोजन पड़नेपर-होगई है। इसीसे इनकी असाधारण प्रतिभाका पता लगता है।

ये अपने युगके-सत्रहवीं शतीके उत्कृष्ट विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थकार व साधक मुनि थे। अद्यावधि इनकी ये कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं-विजयदेवमाहात्म्य, उपकेशशब्दव्युत्पत्ति, शिलोञ्छनामकोषटीका, (र. का. सं. १६५४) दुर्गपदप्रबोधवृत्ति, (सं. १६६१) अभिधाननाममालावृत्ति, (सं. १६६७ जोधपुर) सारस्वतप्रयोगनिर्णय, चतुर्दश स्वरस्थापनवादस्थल और-विद्वत्प्रबोध। इनके अतिरिक्त और भी लघुतम कई ग्रन्थ व मुक्तक रचनाएँ पाई जाती हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक नहीं जान पड़ता है।

प्रतिपरिचय—

महावीर-स्तोत्रावचूरि की मूल प्रति हमारे कनिष्ठ गुरुबन्धु मुनि श्री कान्तिसागर के संग्रह की है। पत्रसंख्या १० है। प्रति पृष्ठमें १५ पंक्तियाँ हैं। इसकी लिपि सुंदर व सुपाठ्य है। चित्र अलगसे दिया जा रहा है।

लेखनप्रशस्ति इस प्रकार है—

सं. १६९५ वर्षे ज्येष्ठ सित ४ दिने लेखि वाचनाचार्य विशालकीर्तिगणिना शिष्य पं० क्षेमहर्ष पं० हेमहर्ष मुनिपठनकृते श्री विक्रमपुरे ॥ श्रेयः स्यात् ॥ श्रीः ॥

---

१ यह साधुसुन्दर वही जान पड़ते हैं जिनकी "उक्तिरत्नाकर" नामक कृति पाई जाती है। वि. सं. १६५७ की लिखी हुई एक प्रति मुनि कान्तिसागरके संग्रहमें सुरक्षित है जब कि "युगप्रधान जिनचंद्रसूरि" में नाहटाजीने इसका रचनाकाल सं. १६७०-७४ सूचित किया है।

चंद्रदूत और विद्वत्प्रबोध की प्रतियाँ बीकानेर वाले श्री अगरचंदजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुई थीं। चन्द्रदूत की प्रति की लिपि सुन्दर व तात्कालिक होने से सम्पादनमें सरलता रही। दो पत्रोंमें चारों ओर सूक्ष्माक्षरोंसे आवश्यक टिप्पण भी उल्लिखित हैं। कठिन शब्दोंपर इनसे अच्छा प्रकाश पडता है।

विद्वत्प्रबोधकी प्रति ६ पत्रोंकी है। इसकी लिपि अतीव सुन्दर है। लेखनकालका निर्देश तो नहीं है पर इसके लिपिसौंदर्यसे अनुमान होता है कि यह प्रति तात्कालिक होनी चाहिए। इसकी कई विशेषताएँ हैं। इसका प्रतिलेखक कोई विद्वान् जान पड़ता है। क्यों कि, इसमें प्रत्येक शब्दका विन्यास–सूचक चिन्ह बने हुए हैं और यों तो सम्पूर्ण प्रतिमें कठिन शब्दोंको स्पष्ट करनेके लिये टिप्पण भी दिये हैं, परन्तु ५ पृष्ठोंमें तो आवश्यक टिप्पणोंका इतना गंभीर संकलन है, कि एक अक्षर लिखनेका स्थान रिक्त नहीं है। पर सौंदर्य भी कम नहीं हुआ।

जिन तीन ग्रन्थोंका सामूहिक प्रकाशन हो रहा है वे सर्व प्रथम ही साहित्यसंसार में आ रहे हैं। इनमेंसे विद्वत्प्रबोध की तो प्रति कहीं नहीं है और न प्रकाशित जैनसूचिपत्रोंमें कहीं नामोल्लेख ही है।

परमपूज्य गुरुमहाराज उपाध्यायपदविभूषित १००८ **मुनि श्री सुखसागरजी महाराज** के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं, जिन्होंने अन्यत्र सूचित सद्‌गृहस्थों को सदुपदेश देकर प्रस्तुत विद्वद्ग्रन्थ ग्रन्थत्रयी प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता दिलवाई। प्रतियाँ भेज कर जिन महानुभावोंने हमारा कार्य सुगम किया उनका भी इस प्रसंग पर हम आभार मानते हैं।

इसके प्रूफसंशोधनमें निर्णयसागर प्रेसके संशोधनविभागके प्रधानपंडित **श्री नारायण राम आचार्य**ने जो श्रम किया है, वह स्पष्ट है उनके विषयमें क्या लिखा जाय?

जैन श्वे. मंदिर
मु. सिवनी M. P.
मि. मु. ११ सं. २००९

मुनि मंगलसागर

पुस्तक प्राप्तिस्थान–

श्रीजिनदत्तसूरिज्ञान भंडार

ठि. गोपीपुरा, शीतलवाडी उपाश्रय,

मु० **सुरत**, (गुजरात)

श्रीखरतरगच्छालंकारजिनवल्लभसूरिविरचितं

श्रीमहावीरस्तोत्रम् ।

नरसुन्दरगणिकृतावचूरिसमलङ्कृतम् ।

भावारिवारणनिवारणदारुणोरु,-
कण्ठीरवं मलयमन्दरसारधीरम् ।
वीरं नुवामि कलिकालकलङ्कपङ्क,-
संभारसंहरणतुङ्गतरङ्गतोयम् ॥ १ ॥

श्रीवर्धमानं प्रणिपत्य भक्त्या,
सूरीश्वरश्रीजिनवल्लभस्य ।
विनिर्मितं स्तोत्रमहं पवित्रं,
व्याख्यामि सुज्ञानकृपाय ×× ॥ १ ॥

तथा हि—**अहं वीरं श्रीवर्द्धमानं तीर्थंकरं नुवामि,** इति सम्बन्धः । कीदृशं वीरम् ? **भावारिवारणनिवारणदारुणोरुकण्ठीरवम्,** भावारयः=अन्तरङ्गारयः क्रोधादिचतुष्कषायाः, त एव विवेकवृक्षभञ्जनाद् वारणाः=हस्तीन्द्राः, तेषां यन्निवारणं=ध्वंसनं विनाशनं, तत्र दारुणो=रौद्रः, उरुः=महान् योऽसौ कण्ठीरवः=सिंहः मृगेन्द्रः, स इव यस्तं—भावारिवारणनिवारणदारुणोरुकण्ठीरवम् । पुनः किंलक्षणं वीरम् ? **मलयमन्दरसारधीरम्**—मलयः=मलयाचलः, मन्दरः=मेरुपर्वतः, तयोः सारो=मध्यं तद्वद् धीरः=निश्चलः परीषहोपसर्गवात्यादिभिर्निष्प्रकम्पस्तम् । पुनः कथम्भूतं वीरम् ? **कलिकालकलङ्कपङ्कसंभारसंहरणतुङ्गतरङ्गतोयम्**—कलिकाले ये कलङ्काः=असद्दोषारोपाः, त एव प्राणिदेहमालिन्यकरणात् पङ्कसंभारः=कर्दमचयः, तस्य संहरणं=प्रक्षालनं, तत्र तुङ्गतरङ्गम्=उच्चैस्तरकल्लोलं यत्तोयं=पानीयं, तद्वद् यः स तं—कलिकालकलङ्कपङ्कसंभारसंहरणतुङ्गतरङ्गतोयम् । एभिर्विशेषणैर्विशिष्टं वीरं स्तौमीति विद्यमानगुणप्राकट्येन संभावयामि ॥ इति प्रथमकाव्यार्थवृत्तिः ॥ अत्र वसन्ततिलकाछन्दः, तल्लक्षणं चेदम्—
"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।"

बाढं विसारिगरिमा महिमा तवेह,
बुद्धो न देवगुरुणा न पुरन्दरेण ।
तं कोऽवगन्तुमखिलं जडिमालयोऽह,-
मुञ्छामि किन्तु तव देव ! गुणाणुमेव ॥ २ ॥

हे देव=हे स्वामिन्! तव माहात्म्यं=प्रभावः, ईदृग् वर्त्तते । कीदृशो महिमा? बाढं विसारिगरिमा—बाढं=गाढं सामस्त्येन वा विसारी=प्रसरणः विस्तरणशीलो गरिमा=प्रौढिर्यस्य स विसारिगरिमा, अतः कारणात् इह=त्रैलोक्ये, देवगुरुणा=बृहस्पतिना, तव विसारिगरिमा महिमा न बुद्धः=न ज्ञातः। पुनरपि पुरन्दरेण=इन्द्रेण तव [विसारि] गरिमा महिमा न बुद्धः=न ज्ञातः। इति। एतावता-अन्यैरपि धीमद्भिर्न बुद्ध इति। ततो हेतोः तं तव महिमानम्, अखिलं=समस्तम्, अवगन्तुं=परिच्छेत्तुं, जडिमालयः=महामूर्खः, अहम् इति-आत्मनिर्देशकः कियन्मात्र इत्यर्थः। पश्चात् किञ्चिद्वदामि इत्याह-किन्तु=तथाऽप्यर्थे । हे देव! भवतो गुणाणुमेव=शमदमज्ञानादिगुणलेशमेव उञ्छामि [यथा क्षेत्रे पतिता व्रीहयो हि कणशः आदीयन्ते] तथा-अन्यावशिष्टकणग्रहणमिव स्वल्पं स्वल्पमङ्गीकरोमीत्येवं कथयता स्तोत्रकारकेन स्वस्य निरहङ्कारता प्रकाशितेति भावः ॥ २ ॥

सन्तो गुणा गुणिगुरो! तव हासहंस-
नीहारहारधवला बहुलीभवन्ति ।
ते सोम-सूर-हरि-हीर-विरञ्चि-बुद्ध-
मायावि-देवनिवहे न मलीमसा वा ॥ ३ ॥

हे गुणिगुरो=हे गुणवतां गुरो!, गुणा विद्यन्ते येषां ते गुणिनः, तेषां गुरुः, तस्यामन्त्रणे हे गुणिगुरो! सन्तः=विद्यमानाः, तव गुणाः=ज्ञानादयो रूपसौभाग्यादयो वा, बहुलीभवन्ति=प्रचुरीभवन्ति तद्गुणज्ञैर्विचार्यमाणा विस्तीर्णतामापद्यन्त इति। कीदृशास्तव गुणाः? इत्याह—हासहंसनीहारहारधवलाः-हासः=हास्यं, हंसः=मरालः धवलः पक्षी, नीहारः=हिमं, हारः=मुक्ताफलमयः, एतेषां द्वन्द्वसमासे हासहंसनीहारहाराः, तद्वद् धवलाः=उज्ज्वलास्ते तादृशा निर्मला गुणाः=ज्ञानादयः। किमन्यस्मिन्नपि देवादौ वर्त्तन्ते? इत्यत्राह—'ते सोमसूरे'त्यादि। सोमः=चन्द्रमाः, सूरः=आदित्यः, हरिः=नारायणः, हीरः=महेश्वरः, विरञ्चिः=ब्रह्मा, बुद्धः=सुगतः, एतेषां द्वन्द्वसमासे सोमसूरहरिहीरविरञ्चिबुद्धास्तेऽत्र ते देवलक्षणराहित्यान्मायाविदेवाश्च सोमसूरहरिहीरविरञ्चिबुद्धमायाविदेवाः, तेषां निवहः=समूहस्तस्मिन् ते निर्मला गुणा न=नैव विद्यन्त इत्यर्थः। 'मलीमसा वा' इति, वा=अथवा चेद् विद्यन्ते तर्हि मलीमसाः=मषीश्यामा एव वर्त्तन्ते। एतावता देवान्तरेषु दोषा एवोक्ता भवन्तीति। यस्मात् कारणात् दोषान् कृष्णान् गुणान् धवलान् वर्णयेदिति कविरूढिस्ततो हेतोर्यथा भवति गुणाः सन्ति तथा देवनरकेषु दोषा एव वर्त्तन्त इति। उक्तञ्च वीतरागस्तोत्रे श्रीहेमाचार्येण—

"सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः ।
स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥ १ ॥"

सर्वात्मना=सर्वप्रकारेण, अन्येषु=हरिहरादिषु देवेषु सर्वे दोषा एव सन्ति। [ते दोषाः पुनस्त्वयि गुणा एव] देव! चेदियं तव स्तुतिर्मिथ्या तर्हि सभासदः=सभालोका एव प्रमाणं तस्माद्गुणवत्तया परमेश्वर एवाराध्यः ॥ ३ ॥

देवं भवन्तमवहाय दुरन्तमोह,-
संछन्नबुद्धिमिहिरा इह भूरिकालम् ।

संसारनीरनिलये बहु संसरन्तो,
विन्दन्ति जन्तुनिवहा न हि सिद्धभावम् ॥ ४ ॥

हे नाथ! भवन्तं=त्वां देवम्=अर्हद्भट्टारकम्, अवहाय त्यक्त्वा, जन्तुनिवहाः=प्राणिव्यूहाः सिद्धभावं=सिद्धत्वं, न विन्दन्ति=न जानन्ति न लभन्ते, हि=निश्चितम्। 'विद्लृती लाभे' इत्यस्य धातोः प्रयोगः, विदन्तीति रूपं ततो भवति। किंविशिष्टास्ते जन्तुनिवहाः? यतः—दुरन्तः=दुरपोहो यो मोहः=अज्ञानं मूर्खता तेन संछन्नः=अभ्यावृतः बुद्धिमिहिरः=मतिसूर्यस्तदावरणाभ्रजालैर्येषां ते [दुरन्तमोह]संछन्नबुद्धिमिहिराः, अत एव भूरिकालम्=अनन्तपुद्गलपरावर्त्तरूपं समयम्, इह=अस्मिन् संसार एव दुष्प्रापपारत्वात् नीरनिलयः=समुद्रः संसारनीरनिलयस्तस्मिन् बहु=घनं यथा स्यात्, संसरन्तः=नरामरनरकभवैः पर्यटन्तः, सिद्धभावं न हि विन्दन्ति=न लभन्ते इति योजितमेवेति। तदेवं सज्ज्ञाना आसन्नसिद्धिकाः प्राणिनो वीतरागदेवं समाराध्य मोक्षस्थानं लभन्त इति तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

सासूयसङ्गमसुरोरुसमूढदम्भ,-
संरम्भसंतमससञ्चयचण्डभासम्।
हिंसासरोरुहतमीरमणं चिरोढा,-
हङ्कारकन्दलदलीकरणासिदण्डम् ॥ ५ ॥
वन्देऽहमिन्दुदलभालममन्दभन्द-
सन्दोहमन्दिरवरं दरकन्दकोलम्।
गम्भीरसम्भवजरामरणोरुनीर,-
संसारसागरतरीकरणिं च वीरम् ॥ ६ (युग्मम् ॥)

अहं वीरं वन्दे=अभिवादयामि। किम्भूतं वीरम्? सासूय० सह असूयया अन्यान्य-गुणानां धैर्यस्थैर्यादीनां दुष्टताकरणेन वर्त्तते यः स सासूयः, स चासौ संगमश्च सासूयसंगमः, तस्य उरुः=गरिष्ठः समूढः=चिरव्यूढः दम्भस्य=कपटस्य संरम्भः=आटोपः स एव विवेकनयनान्ध्यो-त्पादकत्वात् संतमससञ्चयः=अन्धकारसमूहः, तत्र चण्डभास इव चण्डभासः=सूर्यस्तम्। साभिप्रायमिदं हि विशेषणम्—भगवतः किल श्रीमहावीरस्य छद्मस्थविहारेण विहारं कुर्वतः सङ्गमनामा इन्द्रसामानिकोऽ-भव्यदेवः षण्मासीं नानाप्रकारान् उपसर्गांश्चकार, श्रीवीरः पुनरतुलबलपराक्रमस्तान् निरुपमक्षान्त्यैव पराजितवान्, इति गुरुक्रमः। उक्तञ्च तत्स्तुतिकारेणैव महावीरस्यान्यस्तोत्रे यथा—

"एगरयणीय वीसं, छहिं मासेहि वि बहुउवसग्गे।
तुह करियहरिय सुरसग्ग संगमो संगमो जाओ ॥ १ ॥"

पुनः किंरूपम्? हिंसासरोरुहतमीरमणम्, हिंसा=जीववधः सैव कुलेश्यापङ्कजातत्वात् सरो-रुहं=कमलं, तत्र तमीरमण इव तमीरमणस्तम्, चन्द्र इव, यथा चन्द्रः सरोरुहं संकोचयति, तं किंलक्षणम्? चिरोढाहङ्कारकन्दलदलीकरणासिदण्डम्, चिरं=बहुतरं कालम्, ऊढः=धृतः यः अहङ्कारः=गर्वः, स एव चित्तभूमिजातत्वात् कन्दलः=नवोत्थितो वनस्पत्यवयवस्तस्य दलीकरणं=छेदनं, तत्र असिदण्ड इव असि-

टिप्प०—१ तथा चोक्तम् (सि. कौ. तिङन्ते)—'सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे। विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात् ॥' इति।

दण्डः=खड्गपात इति भावस्तम्। यथा खड्गपातो नवकिसलयान् छिनत्ति तथा यः स्वामी गर्वं छिनत्ति च। भूयः किंरूपम्? **इन्दुदलभालम्**=इन्दुदलाकारं चन्द्रार्धाकृतिभालं=ललाटं यस्य स इन्दुदलभालस्तम्, इन्दुदलभालम्=अष्टमीचन्द्राकारललाटमित्यर्थः। अत्र 'मयूरव्यंसक–'(पा.२।१।७२) इत्यादिना सूत्रेण मध्यपदस्थस्याऽऽकारशब्दस्य लोपः, एवमन्यत्रापि। पुनः किंविशिष्टम्? **अमन्दभन्दसन्दोहमन्दिरवरम्**, अमन्दानि=प्रौढानि यानि भन्दानि=कल्याणानि, तेषां सन्दोहः=समूहः, तस्य आश्रयभूतत्वात् मन्दिरवत् वरं=प्रधानं प्रकृष्टगृहसदृशम्। भूयः किंरूपम्? **दरकन्दकोलम्**, दरः=भयं, स एव कन्दः, तस्यात्र वनयोगात् कोल इव कोलः=वनशूकरः-दरकन्दकोलः। यथा कोलः कन्दं विनाशयति तथा वीरजिनो भयानि त्रोटयति। पुनरपि कीदृशं वीरम्? **गम्भीरसंभवजरामरणोरुनीर**०–तथा गम्भीराणि=दुरवगाहानि संभवजरामरणान्येव=जन्मवयोहानिप्राणवियोगा एव=उरुनीराणि=विपुलजलानि यत्र स गम्भीरसम्भवजरामरणोरुनीरः, स चासौ संसार एव दुष्टोत्तरणत्वात् सागरः=समुद्रः, तत्र परतटप्रापणसमानधर्मत्वात् तरीकरणिः=बेडीतुल्यः। अथ यथा नौः समुद्रं[द्रात्] तारयति तथा संसारे जन्तूनां जन्मजरामरणानि परमेश्वरो वीरो निस्तारयति। चकारो विशेषणसमुच्चये इति। 'सासूये'त्यादिकाव्यद्वयकथितसप्तविशेषणवर्णितं श्रीवीरं प्रणमामीत्यर्थः॥ ५॥ ६॥

अथ विकारहेतौ विद्यमानेऽपि परमेश्वरस्य भावस्य धीरतां[1] काव्यत्रयेणाऽऽह—

उद्दामकामभरभङ्गुरमङ्गभङ्ग,–
संसङ्गबन्धुरमुरोरुहभारखिन्नम्।
देहं सलीलपरिरिंपणमञ्जुसिञ्जि,–
मञ्जीरचारुचरणं सरसं वहन्ती॥ ७॥
संगेयताललयचञ्चुरचारचारी,–
सञ्चारिणीकरणबन्धकलासु सज्ञा।
उन्नालनीररुहकोमलबाहुवल्ली,
भल्लीव विद्धबहुकामिकुरङ्गसङ्घा॥ ८॥
हेलाविलोलमणिकुण्डललीढगल्ला,
किङ्केल्लिपल्लवकरा वरकम्बुकण्ठी।
केलीललामरमणी रमणीयहावा,
नालं निहन्तुमिह ते विमलाभिसन्धिम्॥ ९॥ त्रिभिर्विशेषकम्।

हे स्वामिन्! एवंविधा **रमणी**=वनिता **ते**=तव **विमलाभिसन्धि**=निर्मलमनोऽभिप्रायं, **निहन्तुं**=क्षोभयितुम् **इह**=पृथिव्यां **नालं बभूव**=न समर्थाऽभूदिति तृतीयकाव्यस्य द्वितीयार्द्धेनोक्तिप्रपञ्चः। किंविशिष्टा रमणी? एवंविधं **देहं**=वरं, **वहन्ती**=धरन्ती। किम्भूतं देहम्? **उद्दामकामभरभङ्गुरम्**–उद्दामकामभरेण=उत्कटकन्दर्पपूरेण भङ्गुरमिव भङ्गुरं कामोल्लासविशेषात् स्तोकमवनतमित्यर्थः। 'इव'शब्दलोपोऽत्र ज्ञेयः। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। पुनः कीदृशं देहम्? **अङ्गभङ्गसंसङ्गबन्धुरम्**–अङ्गस्य=शरीरावयवस्य भङ्गः=मोटनं तस्य संसङ्गः=संपर्कः, तस्माद् बन्धुरं=हृदयङ्गमम्। भूयः किंलक्षणं देहम्? **उरोरुहभारखिन्नम्**–उरोरुहभारेण=कठिनस्थूलोत्तुङ्गकुचद्वयस्य भरेण खिन्नमिव

टिप्प०—१ धीरलक्षणं चोक्तम्–'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' इति।

खिन्नम् । पुनः किंरूपं देहं ? **सलीलपरिरिंषणमञ्जुसिञ्जिमञ्जीरचारुचरणम्**—सलीलं=भाग्यसौभाग्यरूपाहङ्कारात् उत्कृष्टचेष्टासहितं यत् परिरिंषणं=द्रुतविलम्बितचङ्क्रमणं तेन मञ्जुसिञ्जिनी=मधुरशब्दवादिनी ये मञ्जीरे=नूपुरे, ताभ्यां चारू=विशेषदर्शनीयत्वात् मनोज्ञौ चरणौ=पादौ यस्मिन् स तथा तम् । पुनः कीदृशं देहं ? **सरसं**=प्रस्तावात् शृङ्गारादिनवरसाश्लिष्टम् ॥ ७ ॥

पुनरपि वनिताविशेषणानि—'**संगेये**'त्यादि ।

तत्र—**तालाः**=चपुटचाचपुटादयः, **लयः**=गीतनृत्यवाद्यानां साम्यावस्था, **चञ्चुरः**=व्यापारनैपुण्यसुन्दरः, स चासौ **चारः**=प्रगल्भपदन्यासश्च चञ्चुरचारः चारी, मृदुमन्दपदन्यासाश्चार्यः, ताश्च सङ्गीतकशास्त्रप्रसिद्धाः षोडश आकाशिक्यः षोडश च भौम्यः, एवं द्वात्रिंशच्चार्य्यः, ततस्तालादीनां पदानां द्वन्द्वसमासे सति, संगेये=संगीतके नाटके ताललयचञ्चुरचारचार्यः **संगेयतालल‌यचञ्चुरचारचार्यः**, ताभिः **संचरितुं**=हस्तपादाद्यभिनयपूर्वकं प्रवर्त्तितुं शीलमस्याः सा तथा । पुनः किंविशिष्टा रमणी ? **करणबन्धकलासु सज्जा**—करणानि=अष्टोत्तरशतसंख्यानि, बन्धः=मयूरबन्धादिः, कलाश्च=स्त्रीजनोचिताश्चतुष्षष्टिः, ततः कृतद्वन्द्वासु करणबन्धकलासु विषये यथावसरं तत्र व्यापारविधाने सज्जा=सावधाना, चतुरेति यावत् । पुनः कीदृशी ? **उन्नालनीररुहकोमलबाहुवल्ली**—उन्नालम्=ऊर्ध्वस्थितं यन्नीररुहं=कमलं तद्वत् कोमले=सरले लतादिधर्मसाम्यात् मनोज्ञे बाहुवल्ल्यौ=भुजलते यस्याः सा तथा । पुनः किंरूपा रमणी ? **भल्लीव**=भल्ली इव । 'इव'शब्दस्य तुल्यार्थवाचकत्वात् प्रहरणविशेषतुल्येत्यर्थः । कुतः ? इत्याह—यतो **विद्धबहुकामिकुरङ्गसङ्घा**—विद्धः=तीक्ष्णकटाक्षक्षेपणाद् भेदितो बहुकामिन एव चटुलस्वभावत्वात् कुरङ्गसङ्घः=हरिणयूथो यया रमणीभल्ल्या सा तथा । अत्रोपमानोपमेयभावना सुकरैव ॥ ८ ॥

पुनः किंविशिष्टा रमणी ? '**हेलाविलोले**'त्यादि ।

हेलया=संभ्रमविशेषणया विलोले=चपले मणिकुण्डले=रत्नकुण्डले अत एवाभ्यां लीढौ=श्लिष्टौ गल्लौ=कपोलस्थलौ यस्याः सा तथा ६ । तथा पुनः किंविशिष्टा रमणी ? **किङ्केल्लिपल्लवकरा**—किङ्केल्लिपल्लवः=अशोकवृक्षकिशलयः, तद्वत् मृदू=शोणौ करौ=पाणी यस्याः सा तथा । भूयः कीदृशी रमणी ? **वरकम्बुकण्ठी**—वरकम्बुः=मनोज्ञशङ्खस्तद्वत् त्रिरेखताशब्दमाधुर्यादिगुणसहितः कण्ठः=गलो यस्याः सा तथा । '**केलीललामे**'**ति**, केलीलीला इत्येकोऽर्थः' केली केलीमत्योरभेदोपचारात् केली=केलीमतीति स्त्रीनाम, ततश्च केलीमतीनां=लीलावतीनां कामिनीनां ललामेव=भूषणमिव केलीललाम । अत्र नपुंसकत्वात् सेर्लोपः । आविष्टलिङ्गत्वान्न लिङ्गभेदः, तथा । पुनः किम्भूता रमणी ? **रमणीयहावा**—रमणीयः=कामिजनव्यामोहकतयाऽभिलषणीयः हावः=मुखविकारो यस्याः सा रमणीयहावा । हावादीनां चेदं लक्षणम्—

"हावो मुखविकारः स्याद्,-भावश्चित्तसमुद्भवः ।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो,-विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः ॥ १ ॥
इष्टानामर्थानां, प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूतः ।
स्त्रीणामनादरकृतो, बिब्बोको नाम विज्ञेयः ॥ २ ॥
स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणो चैव ।
उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टोऽसौ स विशेषः स्यात् ॥ ३ ॥" (रसार्णव. २।२६)

इति पूर्वोक्तानि दशसङ्ख्यानि विशेषणानि रमण्या ज्ञेयानि । 'रमणी'शब्दाग्रे जात्यपेक्षयैकवचनम् ।

यद्येवंविधाऽपि कामिनी तव निरुपमब्रह्मधारकस्य चित्तभावं पातयितुं न समर्थाऽभूत् येन सविशेषस्त्व-मेवाऽऽराध्योऽसीत्यर्थः । अथवा 'विमले'ति जिनस्यामन्त्रणं ज्ञेयम् । इति 'त्रिभिर्विशेषकम्' इत्येकवाक्येन काव्यत्रयोपनिबन्धज्ञापकमित्यर्थः ॥ ९ ॥

सञ्चारिकिन्नरगणारववेणुवीणा,-
संरावभिन्नकलगेयरवाभिरामा ।
आकालिभावकुगुरूहकुधीकुदेव,-
संबद्धबुद्धिहरणी तव देव! वाणी ॥ १० ॥

हे देव=हे वीर! एवंविधा तव वाणी=व्याख्यानं मम प्रमाणं वर्त्तते, इति सम्बन्धः । कीदृशी तव वाणी? संचारी अन्तरङ्गविचाले मूर्च्छनशीला किन्नरगणारवो=किन्नरसमूहविशेषोपपादितः शब्दो यः स सञ्चारिकिन्नरगणारवः, तादृशो यो वेणुवीणासंरावः किन्नरसम्भावित एव वंशवीणाशब्दस्तेन भिन्नः=मिश्रितः कलगेयरवः=देवगायनकृतो मन्द्रगीस्तेनापि मधुरत्वाद्यतिशयगुणविशेषेण समस्तदेवमनुष्यादिश्रोतृजनचित्ताह्लादकत्वात् अभिरामा=मनोज्ञा । एतदर्थप्राकट्यकरो वाऽयं श्लोकः । मालवकौशिकीमुख्यग्रामरागपवित्रितस्तव दिव्यो ध्वनिः पीतो हर्षोद्ग्रीवैर्मृगैरपि । पुनः किम्भूता? आकालिभाविनी, या कुगुरूहे=कुगुरुविचारे, कुधियां=कुबुद्धौ कुदेवे च संबद्धबुद्धिः=अभिनिवेशादत्याशक्तिस्तस्या हरणी=तन्निषेधकारिणीति भावः । तत्र कुगुरौ प्रतीते गुरुत्वबुद्ध्या ऊहनं=वितर्कणं कुगुरूहो विचारणमित्यर्थः । कुगुरूहे=अन्यथा स्थिते विधर्मरहस्ये विपरीतावधारणं कुधीः=दुरभिसन्धिरिति । कुदेवः=भगवद्विलक्षणः प्रतीत एवेति ॥ १० ॥

सन्देहदावजलवाहमजीवजीव,-
भावावभासतरणिं भवसिन्धुनावम् ।
आगामिकेवलरमातरुणीविवाहा,
देवागमं तव नरा विरला महन्ति ॥ ११ ॥

हे देव! विरलाः=स्तोका एव नराः=मनुष्यास्तव भगवत आगमं=द्वादशाङ्गाख्यं प्रवचनं सिद्धान्तं महन्ति=पूजयन्ति । कीदृशमागमम्? सन्देहदावजलवाहं सन्देहः=संशयः स एव निश्चितार्थतत्त्ववनदाहकत्वाद् दावानलः, तत्र जलवाह इव जलवाहः सन्देहदावजलवाहस्तम् । यथा जलवाहो दावानलमुपशमयति तथा वीरागमः सन्देहान् स्फेटयति । पुनः किम्भूतमागमम्? अजीवजीवभावावभासतरणिम्-अजीवजीवयोर्भावयोः=पदार्थयोः उपलक्षणत्वात् पुण्यपापादिशेषतत्त्वानामपि अवभासः=यथावत्प्रकाशनं, तत्र तरणिरिव तरणिः=सूर्यः । यथा सूर्यः पदार्थानां प्रकाशनं करोति तथा–आगमोऽपि भावान् प्रकाशयति । भूयः किम्भूतम्? भवसिन्धुनावं–भवः=संसारः, स एव दुःखपानीयभृतत्वात् सिन्धुः=समुद्रः, तत्र नौरिव नौः भवसिन्धुनौः, तं भवसिन्धुनावम् । यथा नौः समुद्रं तारयति तथा सिद्धान्तः संसारं तारयति। कीदृशा नराः? आगामिकेवलरमातरुणीविवाहाः—आगामी=आसन्नभावी केवलरमातरुण्याः=केवललक्ष्मीस्त्रियाः विवाहः=लक्षणसंयोगो येषां ते आगामिकेवलरमातरुणीविवाहाः, आसन्नसिद्धिकाः भव्यपुरुषा इत्यर्थः ॥ ११ ॥

देवा महापरिमलं तरलालिजाल,-
झङ्कारहारि तव वीर! सभासु भूरि।
फुल्लारविन्दनवसुन्दरसिन्दुवार,-
मन्दारकुन्दकबरं कुसुमं किरन्ति ॥ १२ ॥

हे वीर=श्रीवर्द्धमान! देवास्तव सभासु कुसुमं किरन्ति, इति सम्बन्धः। किम्भूतं कुसुमम्? महापरिमलम्, महान् परिमलो यस्य तत्-महापरिमलम्=अत्यन्तसुरभि, तरलं=स्वभावादेव चटुलं यद् अलिजालं=भ्रमरपटलं, तस्य झङ्कारैः=शब्दविशेषैः हारि मनोज्ञम्। 'वीर!' इति सम्बोधनम्। भूरि=प्रचुरं जानुदघ्नमित्यर्थः। पुनः कीदृशं कुसुमम्? फुल्लानि=विकस्वराणि सरोरुहाणि=कमलानि फुल्लारविन्दानि नवसुन्दरसिन्दुवाराणि=प्रत्यग्रनिर्गुण्डीकुसुमानि मन्दाराणि=देवद्रुमपुष्पाणि कुन्दानि= प्रसिद्धानि, तत एतेषां द्वन्द्वसमासे फुल्लारविन्दनवसुन्दरसिन्दुवारमन्दारकुन्दानि, तैः कबरं=मिश्रम् एवंविधं=पञ्चविधम् एकत्वापेक्षया किरन्ति=विक्षिपन्ति सर्वतो विस्तारयन्ति देवाः=व्यन्तरसुराः तव= भवतः सभासु=समवसरणाभ्यन्तरप्राकारे विदिग्वर्त्तमानासु द्वादशसंख्यासु पर्षत्सु-इत्यर्थः। यतो भगवतः पूजातिशयः प्रतिपादितः॥ १२॥

निस्सीमभीमभवसंभवरूढगूढ,-
संमोहभूवलयदारणसारसीरम्।
वीरं कुवासमलहारसुवारिपूर-
मुत्तुङ्गमारकरिकेसरिणं नमामि ॥ १३ ॥

अहं वीरं नमामीति सम्बन्धः। किम्भूतं वीरम्? 'निस्सीमे'त्यादि। निर्गता सीमा=मर्यादा यस्य स निस्सीमः, अत एव भीमः=रौद्रः भवः=संसारस्तस्मिन् सम्भवाः=उत्पत्तयः, तत्र रूढः=जातः, गूढः=गुपिलो यः संमोहः, स एव निश्चलस्थितिकत्वात् भूवलयः=पृथ्वीविकारः, तस्य दारणे=स्फोटने सारसीर इव, सारसीरः हल इव सारसीरस्तम्। यथा सारसीरो भूवलयं विदारयति तथा वीरः संमोहं विदारयति। पुनः किंविशिष्टं वीरम्? कुवासमलहारसुवारिपूरम्-कुवासः=कदाग्रहः, स एव परित्याग- योग्यत्वात् मलः=कर्दमः, तस्य हारः=स्फेटनं, तत्र सुवारिपूर इव=सुप्तुनीरप्रवाह इव सुवारिपूरस्तम्। यथा गाढनीरप्रवाहो मलं प्रक्षालयति तथा वीरो लोकानां कुवासं स्फेटयति। भूयः किंविशिष्टं वीरम्? उत्तुङ्गः=प्रचण्डो मारः=कन्दर्पः स एव दुर्द्धर्षस्वभावत्वात् करी=हस्ती, तत्र केसरी=सिंहस्तम्। यथा सिंहो हस्तिनं विदारयति तथा वीरः कामं निर्जयति। एवंविधं महावीरं प्रणमामि॥ १३॥

भिन्दन्तमन्तरणकारणमन्तरायं,
संरुद्धरोगसमवायमलोभमायम्।
संछिन्नमोहतिमिरावरणावमायं,
वीरं नुवामि नवहेमसमिद्धकायम् ॥ १४ ॥

अहं वीरं नुवामि-इति सम्बन्धः। किं कुर्वन्तम्? अन्तरायं=घातिकर्मचतुष्कं भिन्दन्तं=क्षयं नयन्तम्। कीदृशमन्तरायम्? अन्तरणं=यथेप्सितं दानलाभभोगोपभोगवीर्याणामव्यवधानं प्रतिक-

[प्रत्यक्ष]त्वमित्यर्थः, तस्य **कारणम्**–अन्तरणकारणम्। पुनः कीदृशं वीरम्? **संरुद्धरोगसमवायम्**–संरुद्धः=निषे[पि]द्धः रोगस्य समवायो येन स संरुद्धरोगसमवायस्तम्। पुनः कीदृशं वीरम्? **अलोभमायम्**–न विद्येते लोभमाये यस्य स तम् अलोभमायम्। पुनरपि किम्भूतं वीरम्? **संछिन्नमोहतिमिरावरणावसायम्**–संछिन्नं=सर्वथा विनाशं नीतं मोह एव सन्मार्गप्रवृत्तिनिरोधकत्वात् तिमिरं=तमो येन स तथा। 'आवरण'शब्दो ज्ञानावरणदर्शनावरणाख्ये कर्मणीति अवस्यति=अन्तं प्रापयति यः स आवरणावसायश्चेति विशेषणसमासे संछिन्नमोहतिमिरावरणावसायस्तम्। पुनः कीदृशं वीरम्? **नवहेमसमिद्धकायं**=नवहेमवत्=उत्तमसुवर्णवत् समिद्धो=दीप्तिमान् कायो=देहो यस्य स तम्॥ १४॥

वन्दारुवासवसुरासुरभासुराल,–
ङ्कारामलच्छविपरागसमुद्धराणि।
सेवामि ते चरणवारिरुहाणि भूरि,–
सन्देहरेणुहरणोरुसमीर! वीर!॥ १५॥

भूरयः=प्रचुरा ये **सन्देहाः**=संशयास्त एव **रेणवो**=धूलयस्तासां हरणं निराकरणं, तत्र **उरुः**=प्रचण्डः **समीर** इव=वायुरिव समीरः, तस्य सम्बोधनं क्रियते–हे सन्देहरेणुहरणोरुसमीर! वीर!, इत्येवं सम्बोध्य **ते** तव **चरणवारिरुहाणि**=पदकमलानि **सेवामि** मस्तकनमनादिना। 'सेवामि' इति परस्मैपदम् 'आत्मनेपदमनित्यम्' इति वचनान्निर्दोषमित्यर्थः। कथम्भूतानि तव चरणवारिरुहाणि? **वन्दारुवासवसुरासुरभासुरालम्** वन्दारवः=वन्दनशीलाः सस्नेहप्रणामप्रसक्ता ये वासवसुरासुराः=इन्द्रदेवदैत्याः, तेषां ये **भासुरालङ्काराः**=मस्तकस्थितदेदीप्यमानभूषणानि, तत्सम्बन्धिन्यो या अमलाः **छवयः**=निर्मलकान्तयः, ता एव सुदूरप्रसरणात् **परागः**=मकरन्दस्तेन **समुद्धराणि**=समुन्नतानि गुणोत्कर्षविशेषं प्राप्तानीत्यर्थः। एवंविधानि तव० [चरणवारिरुहाणि॥ १५॥]

अश्चामि ते चरणतामरसालिलीला,–
संधायिपञ्चमगणधारवाणी।
संबुद्धबुद्धिकरुणालयलिङ्गसिद्ध,–
सङ्घावलीदमिगणं चरणं चरन्तम्॥ १६॥

हे वीर! **ते** तव **दमिगणं**=मुनिसमूहं मुनीनां=साधूनां समूहः मुनिसमूहस्तं मुनिसमूहम्, **अश्चामि**=द्रव्यतो भावतश्चेत्यश्चयामीति सम्बन्धः। कीदृशं दमिगणम्? **चरणं चरन्तम्**–चरणं=चारित्रं चरन्तम्=आसेवमानम्। पुनः कीदृशं दमिगणम्? **चरणेत्यादि**। **ते** तव **चरणतामरसयोः**=पदकमलयोः **अलिलीलासन्धायी**=भ्रमरलक्ष्मीधारको यः **पञ्चमगणधारी** सुधर्माभिधो गणधरस्तस्य **वाणी**=देशना-वाङ्मयसम्बन्धः [**संबुद्धः**] प्राप्तप्रतिबोधः, एवंविधो यो **बुद्धिकरुणालयः**=ज्ञानदयाश्रयः, **लिङ्गसिद्धः**=रजोहरणादिचिह्नधारणप्रसिद्धः **सङ्घावल्यां**=चतुर्वर्णसङ्घपरम्परायां **दमिगणं पूजयामि**। अत्रायं भावः–तिष्ठतु तव पूजनं किन्तु त्वयि विषये भक्तेराधिक्यात् त्वदीयं प्रकृष्टशिष्यस्य शिष्यमप्यहं पूजयामि–इति। **वाग्भटालङ्कारे** (परि. १. १५)–

"समास्तमिव पूर्वार्द्धे, कुर्यादर्थप्रकाशनम्।
तत्पुरुष-बहुव्रीही, न मिथः प्रत्ययावहौ ॥ १ ॥"

इति कविसमयमुल्लङ्घ्य पदचतुष्टयेऽपि संलग्नस्यैव समासविधानाद्दूषणो न विधेयः; महाकवीश्वरप्रबन्धेषु क्वचित्तथाविलोकनात्। यथा 'यथा पुरः सुरतसंवरं भरसिद्धिगुणतच्छिवपार्वतीवदनालोकलालस पश्य शङ्करः' (?) ॥ १६ ॥

उच्चण्डधारकरवालकरारिवार,–
विच्छिन्नकुम्भगलनालकरालनागे।
कुन्तासितोमरविभिन्नपरासुदेहे,
कङ्कालमङ्कुलभयावहभूमिभागे ॥ १७ ॥

सावेगहुङ्करणडामरमुण्डरुण्ड,–
कीलाललालसविहङ्गकुलावरुद्धे।
आबद्धबाणविसरे सहसा नुवन्तो,–
वीरं नरा रणभरेऽरिबलं जयन्ति ॥ १८ ॥ —युगलकम्।

एवंविधे **रणभरे वीरं**=श्रीवर्धमानस्वामिनं **नुवन्तः**=स्तुवन्तः गाढभावभक्तिसहिताः स्तुवन्तो **नराः**=सुभटाः सुभटपुरुषाः **सहसा**=वेगेन कालक्षेपं विना **अरिबलम्**–अरीणां=शत्रूणां बलम् अरिबलं=वैरिकटकं, **जयन्ति**=पराभवन्ति पराङ्मुखं निर्मान्ति। कीदृशे रणभरे? **उच्चण्डधारकरवालकरारिवारविच्छिन्नकुम्भगलनालकरालनागे**—उच्चण्डाः=उत्तेजिता अतितीक्ष्णा धारा=अग्रविभागो येषां उच्चण्डधाराः, ते तादृशाः करवालाः=खड्गाः करेषु=हस्तेषु येषां ते उच्चण्डधारकरवालकराः, ते च ते अरिवाराश्च=वैरिसमूहास्ते; **विच्छिन्नानि**=छेदितानि **कुम्भगलनालानि**=कुम्भस्थलकण्ठनालानि येषां ते एवंविधाः, अत एव **करालाः**=रौद्रदर्शनाः **नागाः**=हस्तिनो यत्र स तथा तस्मिन्। पुनः कीदृशे रणभरे? **कुन्तासितोमरविभिन्नपरासुदेहे**—कुन्ताः=भल्लाः असयः=खड्गाः, तोमराः=शस्त्रविशेषाः, एतैर्विभिन्नाः=छेदिताः; अत एव परासवो=मृताः देहाः=मृतद्विपदचतुष्पदानां शरीराणि यत्र स तथा तस्मिन्। पुनः कथम्भूते रणभरे? **सावेगहुङ्करणडामरमुण्डरुण्डकीलाललालसविहङ्गकुलावरुद्धे**—सावेगं=सौत्सुक्यं यत् हुङ्करणडामरं=हुङ्कारशब्दाटोपो येषां ते सावेगहुङ्करणडामराः, एवंविधा ये मुण्डरुण्डाः=मस्तककबन्धाः, तेषां कीलाले=लोहिते लालसानि यानि विहङ्गकुलानि=काकादिपक्षिपटलानि, तैः अवरुद्धः=आच्छादितः स तथा तस्मिन्। पुनः कीदृक्षे रणभरे? **आबद्धबाणविसरे**–आबद्धः श्रेणिरचनामितो योद्धृसुभटैर्युगपन्मुक्तो बाणानां विसरः=समूहो यत्र स आबद्धबाणविसरस्तस्मिन्। एवं पञ्चविशेषणैः सहिते रणाङ्गणे ॥ १७ ॥ १८ ॥

आसन्नसिद्धिकमलापरिरम्भलम्भं,
दम्भोलिपाणिमिव मोहगिरिं किरन्तम्।
सम्पत्तिकारणममङ्गलमूलकीलं,
सेवन्ति के न भगवन्तमघं हरन्तम् ॥ १९ ॥

के धन्याः पुण्यवन्तः पुरुषा **भगवन्तं** श्रीमहावीरं **न सेवन्ति?** अपि तु सेवन्ति; ततः कारणात् ममापि असौ भगवान् निश्चयेन सेवनीय इति भावः। कीदृशं वीरम्? **आसन्नसिद्धि-कमलापरिरम्भलम्भम्**—आसन्नः=समीपस्थः सिद्धिकमलायाः=मोक्षलक्ष्म्याः परिरम्भलम्भः=आलिङ्गन-लाभो यस्य स तथा तम्। किं कुर्वन्तम्? **मोहगिरिं किरन्तं**=छेदयन्तमित्यर्थः। कमिव? **दम्भोलि-पाणिमिव**=इन्द्रमिव। यथा इन्द्रः पर्वतानां पक्षान् तक्षति स्म तथा भगवान् मोहं किरति। अत्र पुरा-तनी वार्त्ता श्रूयते यथा—पूर्वं कुलगिरयः सपक्षाः सन्तो भूमिलोकमुद्वेजयितुं प्रवर्त्तन्ते स्म, ततो विरूपकं ज्ञात्वेन्द्रेण वज्रप्रहारैर्गिरीणां पक्षच्छेदनं साधयित्वा पृथिवीवलये सुखमकारि, इति लौकिकसिद्धान्तः। तथा भूयः कीदृक्षं भगवन्तम्? **सम्पत्तिकारणम्**—सम्पत्तिः=इष्टलक्ष्मीस्तस्याः कारणं=साधनं, तम्। पुनः कीदृशं वीरम्? **अमङ्गलमूलकीलम्**—अमङ्गलम्-उपद्रवस्तदेवारण्याङ्कुरादिनिमित्तत्वान्मूलं, तत्र कील इव कीलः=कोष्ठादिकीलकस्तम्। यथा कीलको मूलमुन्मूलयति तथा वीर उपद्रवान् हन्ति। पुनः कथम्भूतं वीरम्? **अघं**=पापं **हरन्तं**=स्फेटयन्तम्, अतः सेवनीयम् ॥ १९ ॥

आयासभङ्गडमरामयसम्पराय,—
　चोरारिमारिविरहेण चिराय देव!।
भूमण्डले सनगरा निगमा विहार,—
　चारेण ते परममुद्भवमावहन्ति ॥ २० ॥

हे वीर! (**ते**) तव **विहारचारेण**=विहारक्रमेण **निगमाः**=देशाः, सह नगरैर्वर्त्तन्त इति **सनगराः**। **परमं**=प्रकृष्टम् **उद्भवम्**=उत्सवम् **आवहन्ति**=लभन्ते आप्नुवन्ति, मर्यादेण आचरन्ति—इति यावत्। ततो यः विहारचारोऽपि उत्सवकारणकस्तस्तस्य प्रत्यक्षरूपा विलोकनादिकं किं कथनीयं उत्सवकारणवत्त्वस्ये-त्यर्थः। क? **भूमण्डले**=भरतक्षेत्रे। किंलक्षणा निगमाः? **सनगराः**—बृहद्वणिक्स्थानानाम् उपलक्षणात् ग्रामाकरादित्वेन सह नगरैर्वर्त्तन्ते इति सनगराः, नगरैः सहेति भावः। कीदृशेन विहारचारेण? **आयासा-**दिपदानां कृतद्वन्द्वसमासानां **विरहः**=बाहुल्येन वियोगो राहित्यं यस्मिन् विहारक्रमे स तथा तेन। किम्भूतमुद्भवम्? **परमम्**=उत्कृष्टम् ॥ २० ॥

निस्सङ्ग! निस्समर! निस्सम! निस्सहाय!
　नीराग! नीरमण! नीरस! नीरिरंस!।
हे वीर! धीरिमनिवास! निरुद्धघोर,—
　संसारचार! जय जीवसमूहबन्धो! ॥ २१ ॥

हे वीर! त्वं **जय**=सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्वेति प्रयोगः। अत्र सम्बोधनान्याह—निर्गतः सङ्गात्=शब्दादि-पञ्चविषयाश्लेषात् **निस्सङ्गो** जितेन्द्रियत्वात्। निर्गतः समरात्=युद्धाभिनिवेशात् **निस्समरः** समानवैर-मित्रत्वेन जेतुमिच्छाराहित्यात्। निर्गतः समेभ्यः स्वस्मात् परेभ्यः समानरूपादिमद्भ्यो **निस्समः**। अन्येनातुलगुणत्वात्। निर्गतः सहायेभ्यो **निस्सहायः** स्वयमतुलबलपराक्रमत्वेन परसाहाय्यविमुखत्वात्, एकान्तवीर इत्यर्थः। निर्गतो रागात् कामरागादेर्**नीरागः** महिलादिष्वनाश्लेषात्। निर्गतो रमणात्=कूर्दनादि-क्रीडनात् **नीरमणः**। संयतः विरतत्वात् निर्गतो रसेभ्यस्ता(स्त्या?)गयोगेभ्यः शृङ्गारादिभ्यो **नीरसः** विजि-

तमोहरत्वात् । निर्गतो रिरंसातो=महिलासम्भोगेच्छातो **नीरिरंसः** । धीरिम्नः=धैर्यस्य निवास इव=आकर इव **धीरिमनिवासः;** महोपसर्गेष्वपि क्षोभयितुमशक्यत्वात् । घोरः=रौद्रः संसारस्य=भवस्य चारो=भ्रमणं घोरसंसारचारः, निरुद्धो घोरसंसारचारो येन स निरुद्धघोरसंसारचारः समस्तकर्मणां मुक्तत्वेन सिद्धिगतत्वात् । **जीवानां**=प्राणिनां **समूहः** जीवसमूहः, तस्य जीवसमूहस्य बन्धुरिव **बन्धुस्तस्य** सम्बोधनं क्रियते—**हे जीवसमूहबन्धो !** तदिष्टार्थकारकत्वात् । अत्र सर्वेष्वपि पदेष्वामन्त्रणार्थे प्रथमा । सितलुक् च सुगमैवेत्यर्थः ॥ २१ ॥

उल्लासितारतरलामलहारिहारा,
नारीगणा बहुविलासरसालसा मे ।
संसारसंसरणसम्भवभीनिमित्तं,
चित्तं हरन्ति भण किं करवाणि ? देव ! ॥ २२ ॥

एवंविधा **नारीगणाः**=वनिताव्यूहाः **मे**=मम **चित्तं**=स्वान्तं **हरन्ति**=क्षोभयन्ति ललितलीलाकटाक्षविक्षेपादिभिर्व्यामोह्य त्वद्ध्यानादन्यतो नयन्तीत्यर्थः । कीदृशा नारीगणाः ? **उल्लासितारतरलामलहारिहाराः—**उल्लासिनः=कलकलायमानाः ताराः=देदीप्यमानाः तरलाः=चञ्चलाः अमलाः=निर्मलाः हारिणो=मनोज्ञाः हाराः=मुक्ताकलापास्ते कण्ठगलेषु येषां ते । पुनः कीदृक्षा नारीगणाः ? **बहुविलासरसालसाः—**बहुः=प्रचुरः विलासरसः=स्थानगमनादिविशेषोल्लेखः, तत्र अलसाः=मन्थराः । भूयः कथम्भूता नारीगणाः ? **संसारस्य संसरणे संभवः**=उत्पत्तिर्यस्याः सा **संसारसंसरणसंभवा,** तस्या अपि यो **भयस्य निमित्तं** हेतुः कारणम् । अत्राऽऽविष्टलिङ्गत्वान्न लिङ्गवचनयोर्भेदः, यथा दारा गृहा भार्या कलत्रम् । तथा च श्लोकार्द्धम्—"आकरः सर्वपापानां न सेव्याः परयोषितः ॥" इति । एवंविधा **नार्यो मम चित्तं**=स्वान्तं ध्यानात् **हरन्ति,** तर्हि हे **देव ! भण**=कथय **अहं किं करवाणि**=किं विदधानि ? । हे स्वामिन् ! आदेशं देहीति भावः । यथा भवदादेशेन निश्चलचित्तस्तिष्ठामि । इह 'किं'शब्दः प्रश्नार्थः । इह 'करवाणी'त्यत्र 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थने' इत्यनेन संप्रश्नार्थे पञ्चमी आनिच(?) ॥ २२ ॥

इच्छामहासलिलकामगुणालवालं,
चिन्तादलं समलचित्तमहीसमुत्थम् ।
सम्भोगफुल्लमिह मोहतरुं लसन्तं,
हे वीरसिन्धुर ! समुद्धर मे समूलम् ॥ २३ ॥

हे वीरसिन्धुर !=हे वीरगजेन्द्र ! **मे**=मम **मोहमेव तरुं**=वृक्षं **समूलं**=मूलतोऽपि **समुद्धर**=उच्छेदय यथाऽहं निर्मोहश्चात्मलाभवान् निरुपमं सुखमनुभवामीति भावः । कीदृशं मोहतरुम् ? **इच्छामहासलिलकामगुणालवालम्—**इच्छा=कुटुम्बद्रव्यादीनां वाञ्छा सैव मोहवृक्षप्ररोहणात् महासलिलं=प्रचुरं पानीयं स इच्छामहासलिलः, कामस्य गुणाः=शब्दादयस्त एव महातरोराप्यायनाद् आलवालं=पानीयस्थानं यत्र स कामगुणालवालस्तम् । इच्छामहासलिलश्चासौ कामगुणालवालश्चेति कर्मधारयसमासः, तम् । पुनः कथम्भूतम् ? **चिन्तादलम्—**चिन्ता=आलजालस्मृतिः सैव मोहवृक्षस्य अङ्कुरितत्वकरणाद्

टिप्प०—१ 'आयव्ययचिन्ता' इत्यर्थकोऽयं प्राकृतशब्दः ।

दलानि=पर्णानि यस्य स चिन्तादलस्तम्। भूयः कीदृशं मोहतरुं ? समला=सपापा स्वभावान्मलाविला या चित्तमेव विषमोन्नतभावभाक्त्वान्मही=मनोभूमिस्तत्र समुत्थः, 'स्थापासूत्र(?)' इति कप्रत्यये **समलचित्तमहीसमुत्थस्तम्**। पुनः कीदृशं मोहतरुं ? **सम्भोगफुल्लम्**-सम्भोग एव=कामक्रीडैव फुल्लानि=विकसितानि पुष्पाणि यत्र स तम्। इह 'फुल्ल'शब्दो विकसितार्थेऽपि विशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या विशेष्यपुष्पगमको ज्ञेयः। पुनः कीदृशं मोहविटपम् ? **लसन्तं**=वृद्धिं गच्छन्तम्॥ २३॥

सम्पन्नसिद्धिपुरसङ्गममङ्गलाय,
मायोरुवारिरुहिणीवरकुञ्जराय।
वीराय ते चरमकेवलिपुङ्गवाय,
कामं नमः समदयादमिसत्तमाय॥ २४॥

ते=तुभ्यं **वीराय** कामम्=अत्यन्तं **नमः**=नमस्कारोऽस्तु। कथम्भूताय वीराय ? **सम्पन्नसिद्धिपुरसङ्गममङ्गलाय**-सम्पन्नं=सञ्जातं सिद्धिपुरसङ्गम एव=मोक्षनगरसंयोग एव मङ्गलं=माङ्गलिक्यं यस्य स तथा तस्मै। पुनः कीदृशाय ? **मायोरुवारिरुहिणीवरकुञ्जराय**—मायैव सपङ्कस्थानकोत्पन्नत्वाद् उरुवारिरुहिणी=गुर्वी कमलिनी, तत्र कुञ्जर इव कुञ्जरः=बलिष्ठहस्ती यस्तस्मै। पुनः कीदृशाय ? **चरमकेवलिपुङ्गवाय**-केवलं विद्यते येषु ते केवलिनस्तेषां केवलिनां-केवलज्ञानवतां पुङ्गवः=उत्कृष्टः केवलिपुङ्गवः, चरमश्चासौ केवलिपुङ्गवश्च चरमकेवलिपुङ्गवस्तस्मै चरमकेवलिपुङ्गवाय। पुनः कीदृशाय ? **समदयादमिसत्तमाय**-समदयादमाभ्यां=निरुपमक्रियेन्द्रियजयश्च ताभ्यां सत्तमाय=सत्पुरुषश्रेष्ठाय। इति विशेषणचतुष्टयम्॥ २४॥

हे देव! किङ्करमिमं परिभावयेह,
मज्जन्तमुद्धर जवे(जवाद्?)भवसिन्धुपूरे।
उत्तारणाय कुरु वीर! करावलम्बम्,
भूयोऽसमञ्जसनिरन्तरचारिणो मे॥ २५॥

हे **देव! वीर! इमं**=प्रत्यक्षं मां **किङ्करं**=दासम् आदेशवर्त्तिनं **परिभावय**=दृष्टिभ्यां पश्य, मा अवहेलयेत्यर्थः। किं कुर्वन्तमिमम् ? इत्यत्राह—**जवेन** (जवात्)-वेगात् **भवसिन्धुपूरे**=संसारसमुद्रप्रवाहे मज्जन्तं=ब्रुडन्तम् **उद्धर**। एतावता परिभावना विज्ञापिता। ततः पश्चात् किं कुरु ? इत्याह-**हे वीर! उत्तारणाय**=प्रस्तावाद् भवसिन्धुतटानयनाय **करावलम्बं**=हस्तावलम्बनं (**कुरु**) विधेहीत्यर्थः। कस्य हस्तावलम्बनं कुरु ? इत्याह-**भूयः**=प्रचुरम् **असमञ्जसेन**=लोकधर्मविरुद्धसेवनरूपेण कुत्सिताचरणेन निरन्तरं=सर्वदा चरितुं=सेवितुं शीलं यस्य स तथा तस्य मे-मम तव सेवकस्येत्यर्थः। एवं भवति सति मम भवोदधितरणात् सिद्धिः समीपस्थैवेति काव्यार्थः॥ २५॥

कुसमयतरुमालाभङ्गसंहार वायो!,
कुनयकुवलयालीचूरणे मत्तनाग!।
तव गुणकणगुम्फे मे परीणाममित्थं,
विमलमपरिहीणं हे महावीर! पाहि॥ २६॥

टिप्प०—१ अत्र 'समदयादमसत्तमाय' इति पाठोऽवचूरिसंमत इति प्रतीयते।

हे महावीर! मे=मम **परीणामं**=चित्ताभिप्रायम् एवंविधं **पाहि**=रक्ष । कीदृशं मे परीणामम् ? **इत्थं**=मम यथा **चेतसि** वर्त्तते तथेत्यर्थः । **विमलं**-कदाग्रहमलविवर्जितत्वान्निर्मलम् । पुनः कीदृशम् ? **अपरिहीणं**=तव गुणचिन्तनानुप्रेक्षावत्त्वात् वृद्धिमन्तम्, एवंविधं मे चित्ताभिप्रायं स्थापय यथा सततं त्वदीयगुणग्रथनप्रवीणो भवामि । अथ सम्बोधनविशेषणमाह–**'कुसमयतरुमाले'त्यादि** कुसमयाः= जिनवचनविघटिनो ग्रन्थास्त एव तरवः=विष्टराः किञ्चिद्युक्तिछायाकरणात्, तेषां माला=श्रेणी तस्या भङ्गे=विभञ्जने संहारस्य वायुरिव वायुः=कल्पान्तकालसमीरणस्तस्य सम्बोधनं क्रियते–**हे कुसमयतरु०।** पुनः सम्बोधनमाह–**कुनयकुवलयालीचूरणे मत्तनाग**–अनेकान्तवादात्मके पदार्थे प्रतिनियतैकविभागकथन-परायणाः कुनयाः=दुष्टनया दुर्नया इत्येकोऽर्थः, पश्चात् कुनयाः=कुमार्गरूपास्त एवानुपहेतुयुक्ति वाक्य-मुच्छिद्यतत्त्वेन (?) **कुवलयाली**=कुमुदवनश्रेणी तस्याः **चूरणे**=चूर्णीकरणे समुन्मूलने वा **मत्तनाग इव**= उन्मत्तहस्तीन्द्र इव तस्य सम्बोधनं क्रियते हे कुनयकुवलयालीचूरणेमत्तनाग ॥ २६ ॥

अनयनिबिडे पीडाऽऽगाढे भयावहदुस्सहे,
विरहविरसे लज्जापुञ्जे रमे भवपञ्जरे ।
निरयकुहरंगामी हाऽहं न सिद्धिमहापुरी,–
सरलसरणिं सेवे मूढो गिरं तव वीर! हे ॥ २७ ॥

हे वीर! ईदृशे भवपञ्जरे रमे=क्रीडां करोमि, न पुनस्त्वधर्मे । कीदृशे भवपञ्जरे ? **अनयनि-बिडे**–अनयैः=अगम्यगमनादिभिरन्यायैः, निबिडः=व्याप्तः अनयनिबिडस्तस्मिन् **अनयनिबिडे**, भूयः किंविशिष्टे ? **पीडाऽऽगाढे**–पीडाभिः=मनःशरीरदुःखैः आगाढः=विलोडितः पीडाऽऽगाढस्तस्मिन् पीडा-गाढे । पुनः कथम्भूते भवपञ्जरे ? **भयावहदुस्सहे**–तत्र गुप्तगृहादिनानाविडम्बनाशतसहस्रविलोकनाद् भयावहः=भयकारी डवन्त(दुरन्त?)कष्टोपनिर्घोनानुभवनाद् दुस्सहश्च तस्मिन् । भूयः कीदृक्षे भवपञ्जरे ? **विरहविरसे**–विरहेन=इष्टवियोगेन विरसो=नीरसः रूक्षः विरहविरसस्तस्मिन् । भूयः किम्भूते भवपञ्जरे ? **लज्जापुञ्जे**–लज्जायाः=व्रीडायास्तथाविधकर्मावरणजाताया लेश्यायाः पुञ्जः=राशिरूपः लज्जापुञ्जस्तस्मिन् लज्जापुञ्जे लज्जाराशिरूपे । किंविशिष्टोऽहम् ? ततः **निरयकुहरंगामी**–नरकगर्त्तागामी, गमिष्यामीति **णिनि** प्रत्यये गमीप्रयोगः । इह 'ण्णणे न' इत्यनेन कर्मणि षष्ठीनिषेधः । ततः कारणात् 'हा' इति **खेदे अहं तव गिरं**=भवद्वाणीं, **न सेवे**=नाराधयामि । कीदृशं तव गिरम् ? **सिद्धिमहापुरीसरलसरणिम्**–सिद्धिरेव महापुरी सिद्धिमहापुरी, तस्याः सरलसरणिः=ऋजुमार्गस्तां सिद्धिमहापुरीसरलसरणिं नरककपाटार्गलारूपा यथाऽहं त्वदुक्तार्थानामन्यथाऽवधारणेनान्यथाऽनुष्ठानान्नाराधयामीत्यर्थः । यस्मात् मूढः=किंकर्त्तव्यतामूढो मोहन-व्याप्तत्वात् । एतावता त्वं तथा विधेहि यथाऽहं भवद्वचनस्याराधको भवामीति भावार्थः ॥ २७ ॥

निरीहं गन्तारं परमभुवि मन्तारमखिलं,
निहन्तारं हेलाकलिकलहकेली ह-सरसम् ।
भवन्तं नन्तारो नहि खलु निमज्जन्ति भवभी,–
महापारावारे मरणभयकल्लोलकलिले ॥ २८ ॥

हे वीर! **एवं चतुर्विशेषणैः** सहितं **भवन्तं**=त्वां **नन्तारः**=नमस्कर्त्तारः पुरुषाः, **भवभीमहापारावारे**= भवभीश्चासौ महापारावारश्च=महासमुद्रः भवभीमहापारावारस्तस्मिन् भवभीमहापारावारे=महावीचि-

मालिनि, **खलु**=निश्चितं, **नहि**=नैव **निमज्जन्ति**=न ब्रुडन्ति नरकादिनीचगतिं न गच्छन्ति, किन्तु सिद्धिगतिगामिनः स्युः। अथ विशेषणचतुष्टयीमाह—कीदृशं भवन्तं? **निरीहम्**—निर्गता ईहा=सांसारिकसुखेषु वाञ्छा यस्य स निरीहस्तं निरीहम्। पुनः किंविशिष्टं भवन्तम्? **परमभुवि गन्तारम्**—परमा=प्रकृष्टा भूर्या सा परमभूः, तस्यां परमभुवि=सिद्धिशिलाख्यायां गच्छतीत्येवंशीलः गन्ता, तं गन्तारम्। भूयः किम्भूतं भवन्तम्? अखिलं=समस्तं सूक्ष्मबादरविशेषरूपतया वस्तुजातं मन्यते इत्येवंशीलः अखिलमन्ता, तम् **अखिलमन्तारम्**। इह शीले तृन् 'शीलधर्मसाधुषु' इति तृन्प्रत्यययोगात्। 'तृ तुदन्ताव्ययकस्वानातृशशतृङिणकच्खलर्थस्य' इति सूत्रेण कर्मणि षष्ठीनिषेधः। इत्थमग्रेऽपि ज्ञेयम्। पुनः कीदृशं भवन्तम्? **हेला**=विडम्बनातः परनिर्भर्त्सना, **कलिः**=परस्परं विवादः, **कलहो**=विवादः, **केली**=परिहासः, **हसो**=हसनम्, एतेषु हेलादिनामसु पञ्चसु कृतद्वन्द्वसमासेषु **रसो**=लौल्यं, तम। निहन्तीत्येवंशीलो निहन्ता, तं **निहन्तारं**=हयतं (हरन्तं?) पराकुर्वन्तमित्यर्थः। इति चतुर्विशेषणैः। कीदृक्षे संसारभयसमुद्रे? **मरणभयकल्लोलकलिले**—मरणभयान्येव उपरिष्टादुपरिष्टादुत्पतिताः कल्लोलाः=तरङ्गा मरणभयकल्लोलास्तैः कलिले=सङ्कीर्णे॥ २८॥

एवं सेवा परहरिहयालोलचूलामणीद्ध,—
च्छायालीढं खरकिरणभाभिन्नमम्भोरुहं वा।
चित्तागारे चरणकमलं ते चिरं धारिणे मे,
सिद्धावासं बहुभवभयारम्भरीणाय देहि॥ २९॥

हे वीर! **मे**=मह्यं **सिद्धावासं देहि**=सिद्धवसतिं दिश। कीदृक्षाय मह्यम्? **बहुभवभयारम्भरीणाय**—प्रचुरसंसारसाध्वसोपक्रमणश्रान्ताय, अन्यस्यापि श्रान्तस्य वसतिर्युज्यते। किंकारिणे मह्यम्? **चित्तागारे**=मानसगृहे तव चरणकमलं कर्मतापन्नं धारिणे=अवश्यं धारयमाणायेति भावः। अत्र 'कमल'—शब्दः शोभावाचको ज्ञेयः। किंविशिष्टं चरणकमलम्? इत्याह—**'एवं सेवे'**—त्यादि **एवम्**=इत्थं पूर्वकथितवृत्तयुक्त्या **सेवायां**=भक्त्यां **पराः**=एकाग्रचित्ताः, ते च ते हरिहयाश्च=इन्द्राः, तेषा**मालोलाः**=शिरोनमनीकरणादितस्ततश्चलन्तो ये **चूलामणयः**=शिरोऽलङ्कारास्तेषाम **इद्धा**=दीप्तिमती **छाया**=प्रतिमा तया **लीढं**=व्याप्तमिव। उत्प्रेक्षते—ईदृक्षं **चरणकमलं खरकिरणभाभिन्नमम्भोरुह**मिव 'वा'शब्दस्य इवार्थत्वात्, 'इव'शब्दस्य च उत्प्रेक्षाद्योतकत्वात्। तत्र खरकिरणः=श्रीसूर्यस्तस्य भासः=कान्तयस्ताभिर्भिन्नं=विकसितं श्रीसहितम् अम्भोरुहमिव। तस्मादयं भावः—यथा सूर्यकान्तिविकसत् पद्मं वर्णनीयं स्यात् तथा शक्रमस्तकमण्यलङ्कारशोभाव्याप्तं भगवत्पादपद्मवर्ण्यमिति। ततश्चेयमुक्तिः—हे वीर! यथोक्तविशेषणसहितम् अत एव खरकिरणभाभिन्नमम्भोरुहमिव तव चरणकमलं चित्तागारे धारिणे मे, तथा बहुभवभयारम्भरीणाय मे मह्यं सिद्धावासं देहि, इति समुदायार्थः। ननु भोः! 'चरणकमलं धारिणे' इत्येतस्य पदस्य कथं साधनिका स्यात्? इति। उच्यते—अवश्यं धारयिष्यामीति धारी, तस्मै धारिणे। इह पदे णिन् 'चावश्यकाधमर्ण्ये' इत्यनेन सूत्रेण एष्यत्यर्थे गम्यमानावश्यकार्थस्य च णिन्प्रत्यये सति 'एष्यदृणेन' इत्यनेन सूत्रेण षष्ठीप्राप्तिर्निषेध्यते। वर्त्तमानताप्रतीतिस्तु स्तोत्रप्रकरणवशात् ज्ञेयेति 'चरणकमलम्' इत्यस्य वाक्यस्य निष्पत्तिः। अत्र वृत्ते हरिहयस्य सूर्योपमानं हरिहयालङ्कारे प्रतिबिम्बस्य सूर्यकान्तयोपमानं श्रीवीरचरणकमलस्य पद्मोपमानम् इत्युपमानोपमेयभावतया उत्प्रेक्षालङ्कृतेर्गर्भार्थः। इति वृत्तार्थः॥ २९॥

टिप्प०—'अखिलमन्तारम्' इति पाठो मूलपाठेन विसंवादी छन्दोभङ्गहेतुश्च भवति।

इत्थं ते समसंस्कृतस्तवमहं प्रस्तावयामासिवा,–
नाशंसे जिनवीर ! नेन्द्रपदवीं न प्राज्यराज्यश्रियम् ।
लीलाभाञ्जि न वल्लभप्रणयिनीवृन्दानि किं त्वर्थये,
नाथेदं प्रथय प्रसादविशदां दृष्टिं दयालो ! मयि ॥ ३० ॥

एवं पूर्वकथितैरेकोनत्रिंशता काव्यैः प्रतिपादितेन स्तवनप्रकारेण हे **जिनवीर ! ते** तव **समसंस्कृतस्तवमहं** श्रीजिनवल्लभसूरिः **प्रस्तावयामासिवान्**=प्रस्तावयोग्यशब्दार्थघटनया कृतवान् । संस्कृतप्राकृतभाषैः समम्=एकसदृशं **समसंस्कृतं**=संस्करणं समसंस्कृतं तेन सम्बद्धः स्तवः=परमेश्वरस्य विद्यमानगुणप्रकाशनरूपः प्रबन्धस्तं विरचितवानित्यर्थः । ननु भोः ! स्तोत्रकरणेन भवान् किं वाञ्छति ? इत्याह–आशंसे' इति क्रियापदं नकारसंयुतं स्थानकत्रयेऽपि योजनीयम् । कथम् ? यथा–**अहम् इन्द्रपदवीम्**=इन्द्रैश्वर्यं **नाशंसे**=न वाञ्छयामि, **प्राज्यराज्यश्रियं**=समृद्धलक्ष्मीं नाशंसे=न प्रार्थये । तथा लीलां=क्रीडां कुतूहलं भजन्ते=आश्रयन्ते इति **लीलाभाञ्जि**, एवंविधानि **वल्लभप्रणयिनीनाम्**=अभीष्टकामिनीनां **वृन्दानि**=समूहानपि **नाशंसे** । किन्तु प्रार्थनान्तराभ्युच्चये तदेव प्रार्थनान्तरमाह–**दयालो !**–दया विद्यते यस्मिन् स दयालुः, तस्यामन्त्रणे विधीयते दयालो !=हे दयावान् ! **इदं** तव मम प्रत्यक्षम्, **अहम् अर्थये**=याचे । तामेव याच्ञामाह–**प्रसादेन**=अनुग्रहेण **विशदां**=निर्मलां स्वकीयां **दृष्टिं**=दृशं **मयि** विषये=मल्लक्षणजने भक्त्यतिशयेन भवदीयस्तोत्रकारके **प्रथय**=विस्तारय, मम संमुखं दृष्ट्या विलोकयेत्यर्थः। यथाऽहं त्वदीयसौम्यदृग्विलासानुग्रहनैर्मल्येन वाञ्छापूर्त्तिसमावेशात् सफलो भवामीति । किं चेह–'लीलाभां जिनवल्लभे'–त्यनेन काव्यावयवेन श्लेषसहितेन कवीश्वरेण **'श्रीजिनवल्लभसूरि'**रिति स्वकीयं नाम ज्ञापितं, यतः सुप्रसिद्धकवीश्वरस्य नामाङ्कितकवित्वं सद्भिरादरणीयं स्यादिति भावार्थः ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीजिनवल्लभसूरिविरचितं श्रीनरसुन्दरगणिकृताऽवचूरिटीकासहितं श्रीमहावीरस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

लिखित-सं. १६९५ वर्षे ज्येष्ठसित ४ दिनेऽलेखि वाचनाचार्यविशालकीर्त्तिगणिना शिष्यपं० क्षेमहर्ष पं० हेमहर्षमुनिपठनकृते श्रीविक्रमपुरे ॥ श्रेयः स्तात् । श्रीरस्तु ॥

विमलकीर्तिगणिविरचितं

चन्द्रदूत-काव्यम्

— ग्रन्थकृन्मङ्गलम् —

प्रणम्य श्रीयुगादीशं समस्यापादपूरणात् ।
मेघदूतान्त्यपादेन चन्द्रदूतं करोम्यहम् ॥ १ ॥

नारीश्शारीरिव परगृहानाश्रयन्तीर्नितान्तं
त्यक्त्वा रक्ता अपि कलिकरीर्दोषसङ्गं दधानाः ।
हृष्टश्चक्रे प्रथमगणभृत् पुण्डरीकाभिधानः
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

रामः=मनोज्ञः सिद्धक्षेत्रत्वेन गिरिः **रामगिरिः**=श्रीशत्रुञ्जयस्तस्य ये **आश्रमास्तेषु** "रामः श्यामे हलायुधे । पशुभेदे सिते वारौ, राघवे रेणुकायुते ।" इति हैमानेकार्थः । **नारीः त्यक्त्वा** । का इव ? **शारीरिव** । उभयोः साम्यं विशेषणेनाह—परान् गृहान् (त्यक्त्वा)। केवलं स्वगृहानाश्रयन्तीः । स्वगृहाश्रयणं हि स्त्रीणां परमो धर्मः, अन्यथा कुलटात्वापत्तिः । अथवा **परे**=श्रेष्ठाः ये **गृहाः**=स्त्रियः सीताद्यास्तान् आमर्यादया **श्रयन्तीः**=आश्रयन्तीः पतिव्रताधर्मपालनपरा इत्यर्थः । शारीपक्षे तु परे ये गृहा अप्रेतनाः घरीया इति प्रसिद्धास्तान् । **रक्ता अपि**=रागवत्योऽपि **कलिकः**=प्रणयकलहकरणहेतव इत्यर्थः, कृञो हेतुताच्छील्यानुलोमेष्विति हेतौ टच् । शारीपक्षे तु—कलिकरणहेतुता प्रसिद्धैव । दोषभ्यां पोषो धारणं दधानाः, बाहुभ्यां गले गृहीत्वा धारयन्तीत्यर्थः । 'पुष् धृतौ' चुरादिः । दोषशब्दो नकारान्तो यन्मते पदादयः पृथक् शब्दा इति तन्मते दोषवत् दोषन्शब्दः । शारीपक्षे तु—द्यूतस्य सर्वव्यसननायकत्वाद् दोष-पोषधारणं प्रतीतमेव ॥ १ ॥

ध्यानावेशस्तिमितनयनः क्षीणभावारिवैरः
श्रीमानेष प्रशमरसिकः क्षिप्तमालिन्यदोषम् ।
अन्तर्ज्योतिःस्फटिकविशदं यं समारुह्य शैलं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

वप्रे=शृङ्गे या **क्रीडा** तस्यां **परिणता** ये **गजास्तैः** **प्रेक्षणीयं**=दर्शनीयम् । अथवा वप्रस्य= रेणोः क्रीडा, तस्यां परिणता ये गजाः "वप्रः प्राकाररोधसोः । क्षेत्रे ताते वयोणौ" इति हेमसूरिः ॥ २ ॥

येनात्याजि प्रवरमशनं केवलज्ञप्तिदूती-
प्रोक्तं ज्ञात्वा शयनमिह च श्रीशिवस्त्रीस्वरूपम् ।
स्वास्थ्यं न स्यात् पदमपि गते दूरमिष्टे हि शिष्टे
कण्ठाश्लेषप्रणयिनिजने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

येन पुण्डरीकेन गणभृता **प्रवरम् अशनं**=भोजनं च पुनः शय्या निद्रा वा, **इह**=अस्मिन् पर्वते **अत्याजि**=तत्यजे इत्युक्तिः । किं कृत्वा ? **श्रीशिवयुवतिरूपं ज्ञात्वा** । किम्भूतम् ? **केवलज्ञप्तिदूतीप्रोक्तम्** । अन्योऽपि हि प्रेयान् नायिकास्वरूपं कस्याश्चिद् युवत्या मुखाच्छ्रुत्वा भोजनं शयनं च त्यजतीति ॥ ३ ॥

यस्मिन्नद्रौ भरततनयं पुण्डरीकं हृषीक,–
 संयन्तारं समममदृशं वीक्ष्य सिंहो निरंहाः ।
भक्त्याऽऽयाते हरिणशिशवे साधुसाधर्मिकं च
 प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥
चिद्रूपोऽयं हृदयविकलां साधुवृत्तप्रवृत्तो
 वेश्याचारामभिनववया यातयामामकामाम् ।
अध्यारूढः क्षितिधरमिमं निर्वृतिं पर्य्यणैषीत्–
 कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

इमं निर्वृतिपुरम् **अध्यारूढः** पुण्डरीको **निर्वृतिं**=मोक्षश्रियं **पर्यणैषीत्** । यो हि चिद्रूपादिविशेषण-विशिष्टो वरो भवति स हृदयादिविकलां विपरीतगुणां कन्यां न परिणयति; समयोरेव विवाहादिविधौ योग्यत्वात् । तत्कः परिणीतवानित्याह–**कामार्त्ता हीति**। **हि**–यस्मात्कारणात् **कामार्त्ताः**=कामपीडिताः **सचेतनेषु**=सहृदयेषु **अचेतनेषु**=अहृदयेषु **प्रकृतिकृपणा भवन्ति** । बहुवचनमाह–सचेतनाचेतनादिगुणान् न गणयन्तीति चेतनः 'सत् सहृदयप्राणिनोः'इत्युक्तत्वात् ॥ ५ ॥

तत्संस्थस्य त्रिभुवनगुरोर्वन्दनापूर्वकं मे
 सन्देशांस्त्वां कथय वृषभ ! स्वामिनो यामिनीश ! ।
नाथामि त्वां समुदितगतिं साधुपक्षे दधानं
 याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

हे **यामिनीश** ! **त्वां नाथामि**=याचे । किम्भूतं त्वाम् ? साधुपक्षे **साधुः**=शुद्धः **पक्षः** शुक्लपक्षस्तत्र **समुदिताम्**=उदयप्राप्तां **गतिं**=गमनं **दधानं** । अन्योऽपि साधुपक्षे समुदितम्=उक्तं यद्गतिं=ज्ञानं दधाति स उत्तमः प्रायः "गतिर्वहद्व्रणे ज्ञाने यात्रोपायदशाध्वसु" इति गतिशब्दो यात्रार्थो ज्ञानार्थश्चात्र ज्ञेयः ॥ ६ ॥

द्रष्टासि त्वं धनपतिमुखान् सेवमानान् मुनीशं
 यक्षान् दक्षान् प्रणमनविधौ तत्र शत्रुञ्जयाद्रौ ।
त्यक्ताऽभूद् यैर्नगरमलका पूज्यपूजानुवृत्त्या
 बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

धनपतिर्मुखं=मुख्यं येषां ते धनपतिमुखाः, मुखशब्दो मुख्यवाची, "मुखमुपाये प्रारम्भे, श्रेष्ठे निस्सरणास्ययोः" इत्युक्तत्वात् ॥ ७ ॥

दूरस्थायी परवशगतिर्नन्दनं रत्नराशे–
 स्त्वां सम्भाषे त्वमपि वचनं मा कृथा मे गतार्थम् ।
कार्यार्थी हि स्वबलविकलः प्रार्थकः कः परेषां
 न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ ८ ॥

अन्योऽपि विलासी ज्योत्स्नासदृशैश्चन्द्रैः=कर्पूरैरङ्गनानां मुखानि सुरभयति ॥ ८ ॥

शीघ्रं यायाः अकुशलमलं यातु नाशं विलासिन्!
ज्योत्स्नाचन्द्रैः सुरभय दिशामङ्गनानां मुखानि।
यान्तं स्नेहाद्घनमिव घनं चित्तचोराश्चकोराः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥
हृष्यत्येका स्ववशपतिका स्पृश्यमाना कराग्रै,-
रन्या तापं हृदि निदधती कामिनी काममाह।
आग्नेयास्त्रं शशिमयमिदं संवृणु त्वं यथेयं
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ १० ॥

हृष्यत्येकेति, 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति भविष्यदर्थे लट्। हे **काम! इदं शशिमयम् आग्नेयास्त्रं संवृणु यथा इयं** मल्लक्षणा विरहिणी **विप्रयोगे**=वियोगे **हृदयं रुणद्धि** ॥ १० ॥

दुःखार्तानां त्वमिव शरणं नैककोऽप्यस्ति भर्तु,-
स्तप्ताङ्गाया विरहशिखिना यद्भवान् पाययित्वा।
प्रेम्णा पूर्णं लघुनिजकरैश्चक्रवाक्याः सुधाम्भः,
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ ११ ॥
लोकेऽनेके तिमिरमलिने क्षालिते चन्द्रिकाभिः,
स्वापं हित्वा स्फुरितदिवसोत्पादशङ्का विशङ्काः।
सूर्योद्यानं ललितसरसीं राजराज! व्रजन्तः,
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ १२ ॥

हे राजराज! भवतो राजहंसाः सहायाः सम्पत्स्यन्ते। क सति? **लोकेऽनेके**=अनेकस्वरूपे **चन्द्रिकाभिः क्षालिते** सति। त्वच्चन्द्रिकया क्षालितं सकलं लोकं दृष्ट्वा दिवसोद्गमविचारेण निद्रां हित्वा तव सह चलिष्यन्तीति। किं कुर्वन्तः? **सूर्योद्यानं ललितसरसीं**=ललितसरोवरं च **व्रजन्तः**। चकारस्य गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। अन्येऽपि **राजहंसाः**=प्रधाना राजानो ललितसरसीं तीर्थयात्रायै गच्छन्तो राजराजं सहायं लब्ध्वा हृष्टाश्चलन्ति ॥ १२ ॥

प्राणान्मोक्तुं गरलरसनं फेनपातानुमेयं,
चक्रे योऽसौ भवदुरसिजाऽदर्शनात्तस्य सिन्धोः।
वेलाव्याजात् परममृतं भाविनी त्वां निपीय,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ १३ ॥

हे इन्दो! **तस्य सिन्धोः**=समुद्रस्य **स्नेहव्यक्तिर्भाविनी**=भविष्यति। किं कृत्वा? **त्वां निपीय**=त्वामत्यन्तं विलोक्य। किम्भूतं त्वाम्? **परमं**=प्रधानम् अमृतम्। तस्येति कस्य? **यः सिन्धुः गरलरसनं** विषभक्षणं **चक्रे**। किं कर्त्तुम्? **प्राणान्मोक्तुम्**। कस्मात्? भवांश्चासौ उरसिजश्च **भवदुरसिज-**

स्तस्य अदर्शनम्=अप्रेक्षणं तस्मात् । किम्भूतं विषभक्षणम् ? फेनानां पातेनानुमेयम्=अनुमातुमर्हम् । यो हि विषं भुङ्क्ते सोऽप्येकान्ते विषं भुङ्क्ते । पश्चाद् यदा भुङ्क्ते फेना आयान्ति तदा लक्ष्यते–अनेन विषं भुङ्क्ते । लोकोऽप्यत्यन्तं रोगवान् निजं पुत्रं यदा न पश्यति तदा विषं भुङ्क्ते, पुत्रश्चागतो विषं निस्सारयति । त्वं हि परमममृतं तेनात्यन्तं पीतमिति पूर्वपीतं विषं वेलाव्याजात्तस्य निस्सरतीति । अन्यदपि विषममृते पीते न तिष्ठतीति ॥ १३ ॥

इन्दो ! माऽमुं रथपरिगतं तोत्रघातैर्व्यथिष्ठा,
मार्गे श्रान्तं सततचलितैरात्मना किं नु याता ।
भुक्त्वा दर्भान् गगनसरितस्तीररूढान् कुरङ्गः,
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपयुज्य ॥ १४ ॥

हे इन्दो ! अमुं कुरङ्गं तोत्रघातैर्मा व्यथिष्ठाः । किम्भूतं ? ततं यानि सचलितानि=चलनानि तैः, मार्गे श्रान्तम् । चलितमित्यत्र भावे क्तः । असौ कुरङ्गः गगनसरितस्तीररूढान्=तीरोद्गतान् दर्भान् भुक्त्वा च पुनः स्रोतसां=तस्याः प्रवाहानां उपयुज्य पानेनोपयोगं न आत्मना त्वं याता=यास्यति ॥ १४ ॥

तं सारङ्गं रुषितपरुषात् सैंहिकेयस्य दुष्टात्,
दंष्ट्रापातान् मृगयुनिकटाट्टालयंश्च प्रयाहि ।
त्वामापातुं जलनद इति भ्रान्तितः सोत्सुकानां,
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥ १५ ॥

हे इन्दो ! प्रयाहि । किं कुर्वन् ? सैंहिकेयस्य दंष्ट्रापातात्, च पुनः मृगयुनिकटाच्च तं सारङ्गं टालयन् नयन् । किम्भूतात ? रुषितेन=शाश्वतिकेन रोषेण परुषात्=कठिनात् । रुषितमिति भावे क्तः । सैंहिकेयः=सिंहो राहुश्च मृगयुः=व्याधः–आहेडीति प्रसिद्धः । पुनः किं कुर्वन् ? जलनद इति भ्रान्तितः जलकुण्डभ्रमेण त्वामापातुं सोत्सुकानां दिङ्नागानां स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् ॥ १५ ॥

अस्ते सूरे मलिनतमसां सङ्गमश्यामलस्य,
ज्योतिश्चक्राद्द्विगुणितरुचा मण्डलेनाम्बरस्य ।
शोभोदेत्री तव हिमरुचे ! मौलिना व्यक्तमुक्ता,
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १६ ॥

हे इन्दो ! तव मण्डलेन किमिति सम्भावनायाम्, अस्ते सूरे शस्यशोभा उदेत्री=उदयं प्राप्स्यति । किम्भूतस्य दिवसस्य ? मलिनतेति, सहजमलिनेऽपि व्योम्नि तमसां सङ्गमेनेव श्यामतां प्राप्तेनेति । किम्भूतेन मण्डलेन ? ज्योतिश्चक्रेति, कस्य केनेव ? विष्णोः=नारायणस्य मौलिनेव, यथा नारायणस्य मुकुटेन शोभा उदेति तथा दिवः शोभा उदेष्यति । किम्भूतेन मौलिना ? व्यक्तं मुक्ता एव मौक्तिकानि बर्हः=परिकरो यस्य तेन मुक्ताबर्हेण "बर्हः पर्णे परीवारे" इति हैमानेकार्थः । स्फुरितरुचिनेत्युभयोर्विशेषणम् । व्योम्नः=विष्णोरुपमानं मण्डलस्य=मौलेरुपमानं ज्योतिश्चक्रस्थानीयो मुक्तापरिवार इति । किम्भूतस्य विष्णोः ? गोपवेषस्य=भूपवेषस्य ॥ १६ ॥

दैवज्ञास्त्वामशुभशुभयोः सूचकं पार्थिवादे,–
यत्रेक्षन्ते ग्रहगणविदः पञ्चतारादिचारात् ।
तत्र स्थित्वा वियति शशभृद्वर्त्मना पश्चिमायाः,
किञ्चित् पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ १७ ॥

हे इन्दो ! तत्र तेषु ग्रामेषु किञ्चित् स्थित्वा पश्चात् उत्तरेण प्रवरेण पश्चिमाया वर्त्मना व्रज । तत्र तेषु ग्रामेषु वियति=आकाशे स्थित्वा । तत्रेति कुत्र ? यत्र दैवज्ञास्त्वामीक्षन्ते । किम्भूतं ? पार्थिवादेः अशुभशुभयोः सूचकम् । कस्मात् ? पञ्चतारादिचारात्, पञ्चतारादीनां ज्योतिःशास्त्रोक्तेन चारेण राजाप्रजादेशधान्यादेः शुभाशुभं ग्रहगणविदो विचारयन्ति, यथोक्तम्–"पञ्चतारा ग्रहा यत्र, सोमं कुर्वन्ति दक्षिणे । भौमे च राजमारी स्या,–ज्जनमारी च भार्गवे ॥ १ ॥ बुधे रसक्षयं कुर्याद् गुरौ कुर्यान्निरोदकम् । शनौ वर्षाक्षयं कुर्यान्मासे मासे निरीक्षयेत् ॥ २ ॥ तारादीत्यादिशब्दात् बृहदादिनक्षत्रादियोगेन संवत्सरे च धान्यसमर्घ्यमहर्घ्यादिकं सूचयति, यथोक्तं रत्नमालायाम्–"बृहत्सु धान्यं कुरुते समर्घं, जघन्यधिक्याऽभ्युदितो महार्घम् । समेषु धिक्येषु समं हिमांशु,–र्वेदत्यसंदिग्धमिदं महान्तः ॥ १ ॥" जघन्यादिसञ्ज्ञा त्वेवम्–"रौद्रा हि याम्या नलवारुणेन्द्रा,–ण्याहुर्जघन्यानि तथा बृहन्ति । ध्रुवद्विदेवादिति भानि नूनं, समानि शेषाणि पुनर्मुनीन्द्राः ॥ १ ॥" ॥ १७ ॥

तारापुष्पैर्गगनशयनं सज्जयन्ती समीक्ष्य,
ज्योत्स्ना-स्नाता पतिमुपगतं यामिनी यामिनीश ! ।
त्वां सेवित्री भुवि ननु जनो नादरायेतरोऽपि,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥ १८ ॥

हे यामिनीश !=हे इन्दो ! यामिनी कामिनी त्वां सेवित्री भवतीत्यध्याहारः । किं कुर्वती ? तारापुष्पैर्गगनमेव शयनं=शय्यां सज्जयन्ती=समारचयन्ती । किम्भूता ? ज्योत्स्ना–स्नाता । किं कृत्वा ? त्वां पतिं=भर्त्तारम् उपगतं=समीपप्राप्तं समीक्ष्य=दृष्ट्वा । अन्याऽपि वासकसज्जा भर्त्तारं गृहागतं वीक्ष्य कृतस्नाना वासगृहं शय्यां च सज्जयति । ननु=निश्चितम् इतरोऽपि जनः=नीचोऽपि लोकः मित्रे प्राप्ते सति "मित्रं सख्यौ दिवाकरे" । आदराय=आदरं कर्तुं विमुखो न भवति किं पुनर्यस्तथा वल्लभाभावेन उच्चैर्वर्त्तमान इति । अयं भावः–यदि मित्रे प्राप्ते नीचोऽपि जन आदरं करोति तदा स्त्रीजनः स्वभर्तुरादरं करोतीति तत्र किं वाच्यम् ॥ १८ ॥

इन्दो ! मन्दां मदननृपतेर्वाहिनीं स्वैः कराग्रैः
सज्जीकुर्याः स्वदतु भवतो बिम्बशोभां हरन्तीः ।
वक्त्रेण स्त्रीः कुसुमविशिखे जेष्यति द्रागसौ यत्,
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥ १९ ॥

हे इन्दो ! दिवसे हि मदनसेना मन्दा भवति । तदनु असौ मदननृपतिः स्त्रीः द्राग् विजेष्यति ।

टिप्प०—वासकसज्जालक्षणं चोक्तम्—"कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि । सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा ॥" इति ।

किम्भूताः स्त्रीः? वक्त्रेण स्वकीयेन **भवतो मण्डलशोभां** हरन्तीः। अन्योऽपि पूर्वमुपकारिणं स्मृत्वा तं सम्यगुपकरोति ॥ १९ ॥

लब्ध्वा श्लाघां कविजनकृतां सांशुकाया विहायो,-
रूपायास्ते प्रथमवयसा स्वाङ्गमुद्दीपयन्त्याः।
आकारोऽयं स्मरभटगदाशस्त्रमङ्केऽङ्गनाया
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ २० ॥

हे इन्दो! **विहायोरूपाया भुवो** मध्येऽयं तवाकारः **श्लाघां**=प्रशंसां **लब्ध्वा**। किम्भूताया भुवः? अङ्गनायाश्च **सांशुकायाः**=किरणयुक्तायाः सूक्ष्मवस्त्रयुक्तायाः, यदुक्तम्—"अंशुकं श्लक्ष्णवाससि उत्तरीये वस्त्रमात्रेऽपि" इत्यनेकार्थः, दीप्तिमत्त्वात् **प्रथमं**=प्रकृष्टं **वयः**=तारुण्यं तेन **स्वाङ्गमुद्दीपयन्त्याः**। "वयस्तारुण्ये बाल्यादौ खगे च" इति। किम्भूत आकारः? **अङ्के श्यामः अङ्गनायाः स्तन इव मध्ये** चूचुकस्थाने **श्यामः** ॥ २० ॥

ग्रामे ग्रामे सजलजलदश्यामलां काननालीं
फुल्लैः फुल्लैर्बहुविधविभामण्डलैः शोभमानाम्।
तां तां पश्यन् गिरिवरधरामार्गमादाय याया
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ २१ ॥

हे इन्दो! **तां तां काननालीं**=वनश्रेणीं **पश्यन् यायाः**=गच्छेरिति। किं कृत्वा? **गिरिवरः**=श्रीविमलाचलस्तस्य या **धरा**=भूमिस्तस्या **मार्गम् आदाय**=गृहीत्वेत्यर्थः, बहुविधानि पञ्चवर्णानि **विभामण्डलानि** येषां तैः, **फुल्लैः**=विकस्वरैः, **फुल्लैः**=कुसुमैः, **शोभमानां काननालीम्**। कामिव? **गजस्याङ्गे भूतिमिव भक्तिच्छेदैर्विरचितां**=विच्छित्तिविशेषैर्विहिताम्। तत्र श्यामलता काननालीगजसमाना। भक्तिच्छेदोपमानानि फुल्लानीति ॥ २१ ॥

अद्यैवाहं कथमिव निजां सम्पदं दर्शयेयं?
प्राप्तो यस्माद्दिनकरगृहे यावकत्वं ह्य एव।
आलोच्यैवं स्वमनसि मनाङ् मा त्रपिष्ठाः सरोवत्,
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २२ ॥

निद्रां याते सरसिजवने प्रोषिते क्वापि मित्रे
नीरे तीरे हृदयदयितां वीक्षमाणाः सरस्याः।
आक्रन्दन्तः करुणविरुतं प्रीतिरीतेः स्वदृग्भ्यः,
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २३ ॥

हे इन्दो! **सारङ्गाः**=चक्रवाकास्ते तव **प्रीतिरीतेः**=प्रेमसीम्नो **मार्गं सूचयिष्यन्ति**=ज्ञापयिष्यन्ति। किं कुर्वन्तः? **स्वदृग्भ्यः**=स्वनयनेभ्यः **जललवमुचः**=अश्रूणि त्यजन्तः **सरस्या नीरे** कदाचित्तीरे **हृदयदयितां वीक्षमाणाः**=पश्यन्तः **मित्रे**=भानौ **क्वापि**=अज्ञातस्थले प्रोषिते सति। एवं हि प्रिया मित्रवियुक्ताश्चक्रवाका रुदन्तः, आक्रन्दन्तश्च प्रीतिप्रकारं ज्ञापयिष्यन्तीति भावः ॥ २३ ॥

दूनान् पान्थान् हिमकरकरैरर्द्धमार्गप्रसुप्तान्,
मा संस्राक्षीरसकृदबलान् मुञ्चतो बाष्पबिन्दून् ।
स्मारं स्मारं निगरणगतं जीवितं बिभ्रतः स्वं,
सोत्कण्ठानि प्रियसहचरी-सम्भ्रमालिङ्गितानि ॥ २४ ॥

हे इन्दो! त्वं मार्गं गच्छन् **दूनान् पान्थान् करैः असकृद्**=वारंवारं **मा संस्राक्षीः** । **अर्द्धमार्गे**=मार्गविषय एव **प्रसुप्तान् बाष्पबिन्दून् मुञ्चतः** त्यजतः प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि **स्मारं स्मारं**=स्मृत्वा स्मृत्वा कण्ठगतं जीवितं **बिभ्रतः** धारयत इति ॥ २४ ॥

गीतं स्फीतं नवनवरसैरन्तराले कुरङ्गः,
श्रावं-श्रावं श्रवणहरणं पल्लिहल्लीसकेषु ।
स्थास्यत्येप स्थगितहृदयः किं नु कार्यं मदीयं,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ २५ ॥

मदीयं कार्यं प्रति मत्कार्यं लक्ष्यीकृत्य । प्रारब्धगमन इति प्रतिशब्दयोगे लक्षणा इत्थम्भूताख्याने द्वितीया । उद्यात इत्यादि कर्मणि क्तः ॥ २५ ॥

तांस्तान् ग्रामान् द्विजवर! लघूल्लंघयेर्यत्र यस्माद्,
गच्छन्नाथा अवधिसमयं चिन्तयन्त्यो युवत्यः ।
कृत्वा चक्षुर्जलदसलिलैर्भूमिकामन्दिराणां,
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ २६ ॥

कतिपयदिनस्थायिनो हंसजीवितानि यासां ताः । "हंसोऽर्के मत्सरेऽच्युते" खगाश्च योगिमन्त्रादि-भेदेषु परमात्मनि ।-नृपतौ प्राणवर्तिश्रेष्ठोऽग्रतः स्थितः" ॥ २६ ॥

यस्मिन् मार्गे वरगिरितुलां प्रोच्छलन्त्यक्रपतंश्चो,-
ल्लोलैर्व्याजाज्जलधिरसकृत्कामलीलाविलासैः ।
धत्ते चुम्बन् प्रिय इव घनं पीनफेनं प्रियायाः,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २७ ॥

गिरिशब्दोऽयं गेन्दुकवाची । **वरः**=प्रधानो योऽसौ **गिरिः**=कन्दुकस्तस्य **तुलाम्** । "गिरिः पूज्येक्षुरुग्जि कन्दुके शैले, गिरियके गीर्णावपि" इत्यनेकार्थः । कन्दुकः=वस्त्रादिमयं क्रीडनकं, गिरियको गिरिगुडः, काष्ठादिमयं क्रीडनकमिति तट्टीका । अब्धिः क इव ? **प्रिय इव वेत्रवत्याः पयः** । किमिव ? **सभ्रूभङ्गं मुखमिव** ॥ २७ ॥

ग्रामस्यान्तर्बहिरपि समं योगिनीभिः प्रियाभि,-
र्योगी भोगी विदधदनिशं योगकामासनानि ।
नक्तं व्यक्तौपधिगृहमणिद्योतितद्वारदेशै,-
रुह्यमानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २८ ॥

योगो विद्यते यासां ता **योगिन्यः**, मानादिपरित्यागेन **मिलिताभिः**=प्राप्तप्रियाभिः। **योगी योगिनीभिः समं** सह, क्रियायां तुल्ययोगिता ॥ २८ ॥

अस्माच्छीघ्रं विचर शशभृद्राजधानीपुरात्तत्,
सिद्धक्षेत्रं खरतरतपोऽक्षामधामाभिरामा।
दान्ता कान्ता प्रशमसरसी मण्डली यत्र राज्ञा,-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २९ ॥

खरतरं=कठिनं **यत्तपस्तस्य** यद् **अक्षामम्**=अकृशं **धाम**=रश्मिः प्रभावो वा **तेनाभिरामाः**। "**धाम रश्मौ गृहे देहे, स्थाने** जन्मप्रभावयोः" ॥ २९ ॥

मार्गस्यान्तः प्रतिवनमसौ केसरः क्षेमवार्तां,
राजानं त्वां भ्रमरविरुतैः प्रक्ष्यति प्रीतचेताः।
पीत्वा हालां त्वरितफलितो नर्तयन् पल्लवाग्रान्,
छायादानाच्चिरपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ ३० ॥

"छाया पङ्क्तौ प्रतिमाया,—मर्कयोषित्यनातपे। उत्कोचे पालने कान्तौ, शोभायां च तमस्यपि" इत्यनेकार्थः। अत्र छायाशब्द आतपाभाववाची। किम्भूतः? दिवसतः प्रतप्तस्य चिरं छायादानात्, अनातपकरणाच्चिरपरिचित इत्यर्थः। अन्योऽपि हि शोभादानात्सेवकः स्वस्वामिनं राजानं क्षेमवार्त्तां पृच्छति ॥

मार्गायातं धवलकपुरं प्राप्य कालं कियन्तं,
तिष्ठंस्तत्र प्रसृमरकरैः संस्पृशन् कोमलाङ्गम्।
स्त्रीभिः सार्द्धं कमलमृदुलैः सादरं वीक्ष्यमाणो,-
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ ३१ ॥

उच्चैरास्यं नयनपुटकैरापिबन्त्यः सुधांशुं,-
त्वामुद्यातं क्वणितवलयप्रोच्छ्रिताभिर्भुजाभिः।
अङ्गुल्यग्रैर्निजनिजसखीं दर्शयिष्यन्ति योषाः,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ ३२ ॥

पूर्णाचक्रे युगमिव दिनं राजदारा इवैषा,-
ऽसूर्यम्पश्या सरसि नलिनी बद्धकोशानना या।
सा निर्गच्छन् मधुकरमिषाद्दुःखधूमं वमन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ ३३ ॥

पूतं कुर्यास्तदिह नगरं त्वं द्विजेशो विषादैः,
पादैः स्वीयैरवनितिलकं मानुषत्वं श्रितानाम्।
गीर्वाणानां लवणिमजुषां देवलोकच्युतानां,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥ ३४ ॥

भित्त्वा कोशानिह सुमनसामागतो मालवेभ्यो,
भृङ्गीनादैर्निधुवनरसं मालतीं याचतेऽनु ।
मुञ्चन्नग्रे जललवकणान् मौक्तिकानीव युक्तं,
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ३५ ॥
दूरात्प्राप्तैः पथिकनिकरैर्दानतो दानतश्च,
व्यक्तं मुक्तामणिगणततेर्याचकेभ्यो नदीनाः ।
सद्गाम्भीर्या इह धनिजना लब्धरत्नाकराख्याः,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ ३६ ॥
भीमेनात्र द्रुपदतनयाकामुकः कीचकोऽरि,-
र्मृत्युं निन्ये कुरुनरवरा गा इहैवापजह्रुः ।
राधावेधी समधिकबलस्तान् विजिग्ये स्वबाणै,-
रित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥ ३७ ॥
ये प्रासादा विदधति तिथिं पूर्णमासीं सदैकां,
मार्जं मार्जं त्विवतररजनीः सान्द्रचान्द्रप्रभाभिः ।
तेषु स्थित्वा विचर पुरतः सप्तभूमीषु नाशं
खेदं नीत्वा ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३८ ॥
दीपज्योतिर्विनिहततमःस्तोमरम्येषु जाग्र,-
त्पुष्पाकीर्णानुपमशयनासीनपीनप्रियेषु ।
अस्मादग्रे क्षणमपि विधो ! गच्छ सौधेषु पूर्वं,
खेदं नीत्वा ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३९ ॥
पायं पायं मधुरमुदकं नालिकेरीफलानां,
पान्था यस्या बहिरपि पुरः साभ्रमत्याः स्रवन्त्याः ।
संतोष्यन्ते सरसकदलीतालवृन्तप्रणुन्नै,-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ४० ॥
यत्रायातैर्मलयशिखरात्तद्वियोगव्यथार्त्तै,-
रश्रुत्यागं हिमजलकणैर्व्यञ्जयद्भिर्नु पान्थाः ।
आसेव्यन्ते विरहविधुराः साभ्रमत्याः प्रतीरे,
तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ४१ ॥
अर्थालोकः कथयति समालोक्य मेघं पुरस्ता,-
दत्रत्यानां जलदवणिजां वर्षतां स्वर्णधाराम् ।
वर्षन्नीरं चपलतडिता ताडयँश्चातकान्नो,
आमन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ ४२ ॥

कान्तो यावत् प्रणयकुपितो दूतिकाभिः कथञ्चि,-
छय्यां नीतो भवत उदयं पांसुला वीक्ष्य तावत् ।
जातक्रोधा अकृतसुरतत्वादिवानङ्गबाणा,-
नामोक्ष्यंते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥ ४ ३॥
वक्रो मार्गो भवति यदि ते स्तम्भतीर्थं तथापि,
प्रेक्षस्वेन्दो ! सुरपुरमिवाप्रस्वररत्नप्रसादैः ।
तत्रायाते स्मरसहचरे योषितः कामदेवा,-
दामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥ ४४ ॥
वामासूनुं सकलकलुषस्तम्भनं स्तम्भनाख्यं,
तं स्ववापीसलिलकमलैः स्नापयेरर्चयेश्च ।
यं शैवोऽपि स्मरति सततं शैवसौख्याभिलाषी,
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः ॥ ४५ ॥
एवं नादैरुदधिरुदकं वारिवाहं पिवन्तं,
शास्तीव त्वं जलद ! घटयामन्मुतस्यान्तराले ।
शीतीकर्तुः कुवलयततीः शीतगोः सूरतापे,-
स्तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवाक्षाः ॥ ४६ ॥
गेहं गत्वा निजजनयितुर्वारिदैर्याचकैश्च,
नित्यं सत्यस्तनितवचनैः स्तूयमानः समानम् ।
मा विस्मार्षीर्मदुदितवचः प्रेमबन्धान् ममन्धा
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ४७ ॥
निद्रां याते निजपरिजने रत्नकाञ्चीं नियम्याऽऽ,-
यातो यावद्दयितवसतिं प्रोद्गते तावदेव ।
यत्र द्वारादबलकुलटालोकने कः स्वकीयं
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ ४८ ॥
यत्र स्त्रीणां प्रभवतितरां स्निग्धवेणीकृपाणीं,
लात्वाऽनङ्गः श्रितकुचगिरिर्योगिनां योगतेजः ।
आकर्षन् भ्रूधनुरनुपदं चण्डकाण्डांश्च मुञ्चन्,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ ४९ ॥
इन्दो ! भ्राम्यद्भ्रुकुटि-कुटिलं चक्षुषा वीक्षितोऽपि,-
क्रूराघातैरधिकनिहतो याहि याहीति चोक्तः ।
नैति प्रेयांस्तदपि पुरतो मानवत्या कयाचित्,
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ॥ ५० ॥

स्वर्वेश्यानां चिरविरचितग्रामधर्मक्रियाणां
मन्दाराधः श्रमजलकणक्लिन्नचोलाञ्चलानाम् ।
मन्दाकिन्यास्तीरे विचकिलदलान्दोलनः स्वास्थ्यमङ्के
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ ५१ ॥
सौर्ये धाम्नि क्षयमुपगते प्रासरत्सद्मभूमौ
ध्वान्तं यत्र(?) कुवलयदृशां धूपधूमस्य दम्भात् ।
दीपं दृष्ट्वा पुनरपि ततो जालकैर्नश्यति प्रा-
गत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५२ ॥
कण्ठाश्लेषं वितनु सुतनो येन तिष्ठन्ति कण्ठं
प्राप्ताः प्राणाः पतिरिति नतः पादयोरिंगतीन्दो ! ।
यन्मच्चित्ते विरहशिखिनस्तापकं नास्ति सुभ्रू-
रत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५३ ॥
काचित्कान्ता दयितमितरालिङ्गनैः साङ्गरागं
दृष्ट्वा सिक्तं प्रणयहविषाऽमर्षवातप्रणुन्नम् ।
चित्ते धत्ते परमवचनामानवह्निं जयन्त,-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५४ ॥
दीपं कर्तुं सदनमपरं सायमालोक्य यान्तीं
काचिद्ब्रूते सखि! मम हृदो ज्योतिषाऽऽलम्भ्य वर्तिम् ।
एनं कुर्या यदिह चपले ! तादृशं नापरस्मि-
न्नत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५५ ॥
त्वामाचष्टे पतितविरहा कापि रेरेन्वि जाता
नीतं तेजो ज्वलितसुपुरं वाडवाग्नेर्विषाद्वा ।
यत्पानीयैरपि न विलयं याति नेदृक् परस्मि-
न्नत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५६ ॥
सत्यं चन्द्र ! त्वमसि खदिराङ्गारकुण्डं त्वदीयै,-
र्लग्नैः पादैः कथमपरथा दन्तिदन्ताः स्फुटेयुः ।
यस्माद्यन्मां दहसि भवतो युक्तमेतैर्दधाने,-
रत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५७ ॥
स्वर्णं योगैरुचितमुदितं तैजसं जैनपादै,-
र्नूनं ह्येतद् दहनसहितं चेति संन्यस्तमङ्के ।
प्रादुष्कुर्वन् दहति कमलं काञ्चनं भूषणं मा,-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५८ ॥

श्रान्तैः पाथः शशिबिसकजं शीतलं मन्यसे यत्,
कान्तासङ्गादिदमपि हिमं जायतेऽस्माद्धतेन ।
देहे लग्नं नयति सकलं मे विना कान्तयोगा,–
दत्यादित्थं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ५९ ॥

(इत्येकेन पादेन समस्याष्टकम् ।)

यत्रेभ्यानां गृहभुवि विधो ! नर्तकानां वचांसि,
श्रोतासीत्थं मुरजमनघं वादयेरिन्दुलेखे ।
मन्द्रध्वानैर्भवनशिखिनं वारिदस्येव तस्य,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ ६० ॥
तीरस्थायिश्रमणभणितैर्जीवरक्षां दधानो,
यत्रोदन्वान् चपललहरीपाणिभिर्न्यक्करोति ।
दृष्ट्वाऽऽयान्तीं हुतपशुभवां चन्द्र ! चर्मण्वतीं तां,
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ ६१ ॥
मल्लावाहं विमलपयसं बिभ्रतं त्वत्कराग्रै,–
र्बुद्धं मध्ये कुवलयवनं लीनरोलम्बमालम् ।
संश्लाघन्ते बहिरिह नरास्तामलिप्त्या वहन्त्या,
एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ६२ ॥
कुम्भो दम्भं रजतरचितो गेन्दुको वा त्रियामा,–
कन्यायाः किं धवलवृषभस्तारका गोकुलस्य ।
तत्र प्राप्तः सुखय चतुरान् बिम्बमेवं स्वकीयं,
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ ६३ ॥
तीर्थात्तीर्थं पुरवरमिदं चन्द्र ! जानीहि यस्मात्,
पूर्वैः प्रोक्तैर्गृहमनुपमं तस्य विष्णोस्त्वाचि ।
यो दैत्यानां रणभुवि शरैः शीतकाले कराग्रे,–
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन् मुखानि ॥ ६४ ॥
गीर्वाणौघोऽयमिति मुदितो लब्धलक्षं परीक्ष्या,–
स्तौषीत्साक्षात्समरमधमं वैरिवृन्दैरकुर्वन् ।
दोषं मुक्त्वा गुणमभिभणन् निर्गुणस्यापि राज,–
न्नन्तःशुद्धस्त्वमिह भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥ ६५ ॥
दिग्यात्रायै भुजबलभृतः प्रस्थितस्याऽस्य सेना,–
लोकैः सर्वा रमितसलिला निम्नगाः पङ्कशेषाः ।

श्रुत्वा गङ्गा भयपरवशेवात्मरूपं बिभर्तुं,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ ६६ ॥
तस्यावासात्पुरवर इहादूरदेशे वहन्ती,
मातङ्गानां विगलितमदैः श्याममध्यप्रवाहा ।
गङ्गेतीयं जनयति मतिं माभ्रमत्याऽऽपगा हि
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेनाभिरामा ॥ ६७ ॥
कैलासश्रीद्युतिजलरयैः साभ्रमत्याधरन्त्या,
मध्येद्वीपं जलधरघटागर्वसर्वङ्कषाभाः ।
आलम्बन्ते हृदयहरणीं लम्बजम्बूद्रुमाला,
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ ६८ ॥
तस्यां नद्यां जलनिधिकुलालङ्कृते दुःखदूना,
म्लानिं प्राप्ता तुहिनदलिता मालतीवार्कपादैः ।
आश्वास्या ते खलु कुवलिनी-लब्धलक्ष्मीविशेषै,-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ ६९ ॥
स्थित्वा याने विषमजलधिद्वीपपुर्यामुषित्वा,
लब्ध्वा लाभं निजकवमतीरागतादानशौण्डाः ।
भव्यं द्रव्यं प्रददति मुदा याचकेभ्यो महत्य,
आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ ७० ॥
यं यं पश्येद्वनभुवि गतं कम्पयन्ती त्रिलोकीं,
ध्वान्तव्यालं हरिरिव भवान् तं विदारं-विदारम् ।
अग्रे ग्रामान् विचर विकिरन् मौक्तिकानीव ताराः
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ ७१ ॥
प्रत्याहारप्रणयनविदो योगिनोऽधस्तरूणां,
ध्यानावेशाद्विहितपवनाभ्यासना साग्रनेत्राः ।
ग्राम्यैर्लोकैः परममहसां संस्मरन्तोऽपवर्गं,
सङ्कल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ ७२ ॥
वार्धिध्वानोन्मुखरितदरीमार्दले वाद्यमाने,
चूतासीने परभृतजने पञ्चमं गायतीन्दो ।
नृत्यं कुर्यात्त्वयि समुदिते चेचकोरी तदासौ,
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ ७३ ॥
आमोदार्थं बकुलतरुषु व्योमभागावलम्बो,
रोलम्बानामहमहमिकापूर्वमुच्चैः प्रसर्पन् ।

मालाबन्धो विलसतितरां तिर्यगायामशाली,
श्यामः पादो बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥ ७४ ॥
दोषामीयो अवनिपतिनो गोरमो भग्नभाण्डा,-
दुड्डीनो वा त्रिदशसरितो राजहंसीयसङ्घः ।
उद्द्योतस्ते धवलितधरो राजते राजतेऽद्रौ,
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ ७५ ॥
मार्गग्रामेष्वभिनवसुधापूरकर्पूरभास,-
श्चैत्यस्योच्चैर्हिमवत इव प्रावृषेण्ये पयोदे ।
लग्नेऽत्यर्थं स्फुरति महती यत्र शोभा सुधांशो !,
अंशन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥ ७६ ॥
एवं शूरा विषमनयना ग्राममभ्रंलिहाग्रं,
प्राहुः प्राप्ता प्रहरणहताराति सेना गजानाम् ।
आनीतैस्तैरदनमुशलैरीशधामोद्धभूमेः,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ ७७ ॥
ग्रामे कस्मिंश्चन पुनरिति प्राहुराजानुबाहुं,
शत्रुग्रामानभिजिगमिषुं वीरभार्याः स्ववीरम् ।
कान्तैः साकं शयनशयिता नैशभेरीघनानां;
क्रीडालोलश्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥ ७८ ॥
शृण्वन् पश्यन्निति बहुविधं मार्गमुल्लङ्घ्य सर्वं,
राकासङ्गं मधुकररवैर्वारयन्तीमिव त्वाम् ।
बाह्यां नद्यां नवकुमुदिनीमग्रतो वीक्षमाण,-
श्छायाभिन्नस्फटिकविशदं निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥ ७९ ॥
पालीताणाभिधवरपुरी नातिदूरेऽस्ति तस्या,
अर्हच्चैत्यैः शिखरिशिखरप्रोन्नतैर्या बिभर्ति ।
वर्षाकाले हृषितजननं धोरिणीभृद्बलाकं,
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ ८० ॥
ज्योत्स्नागौरं सुविशदसुधाद्योतिताशांतराला,-
स्तारास्फारानुचरसहितं जालकैर्मौक्तिकानाम् ।
विष्वग्व्याप्ता विततकिरणं केतन राजमानाः,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ ८१ ॥
दूरध्वस्तात्रिदिवगुरवो युक्तिभिर्वावदूका,
इभ्याः सभ्या विजितधनदा द्रव्यकोटीकुटीभिः ।

दाराकूपैरतिमदहराः सन्ति शूराश्च यत्र,
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ ८२ ॥
यस्मिन् राज्ञो न कर इतरस्त्वत्करादस्ति राजन् !,
नीचैर्गन्त्री सजलगमना नापरा स्त्री नदीभ्यः ।
नान्यश्चोरश्चरति मरुतः पौरसौरभ्यलक्ष्म्या,-
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ ८३ ॥
मन्दं मन्दं तरुणवयसा सार्द्धमेवाधिरोहन्,
यासामङ्गे लवणिमरसः कामिनां पीयमानः ।
तृष्णां धत्ते ललितसरसी पालिधूलीषु गूढैः,
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ ८४ ॥
मेघभ्रान्त्या प्रियविरहिता योषितो नीलकुण्डं,
प्रावृड्दृष्ट्वापसर परतो याहि देशान्तरं तत् ।
पुष्पोत्तंसश्रवसि शिरसि द्योतते केतकानां,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ ८५ ॥
सिंहद्वारे विबुधमगधाः संस्तुवन्ति क्षितीन्द्रं,
राजन् ! पल्लीसुतकरिहरीनर्द्धमार्गे विहाय ।
संसेवन्ते प्रतिगिरिदरीः शत्रवस्त्रस्तचित्ता,-
स्त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ८६ ॥
शीतः पन्था भवति नयनाभ्यागमेऽपि प्रियाणां,
गच्छन्तीनां निलयनमभिस्वैरिणीनां निशायाम् ।
मार्गाबद्धाः खरकरकृतामुष्णतां चन्द्रकान्ता,
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ८७ ॥
लोकाश्छेका निजनिजकुलाचारसञ्चारणायां,
कासाराश्च प्रतिदिशमलं पूरिता वारिपूरैः ।
उद्यानेषु स्फुरदुरुफलाः पादपा रत्नधाम्नां,
नित्यं ज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥ ८८ ॥
पातुं दानं करटमटिता दन्तिनामागतानां,
नद्यास्तीरं विटपमधुपास्ताडिताः कर्णतालैः ।
हुङ्कारैः स्वां जठरकृशतां ख्यापयन्तोऽभिपश्यं,
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ८९ ॥
छन्ने कोणे शठमतिपतौ क्रीडयाऽऽकृष्य हासा,-
च्छ्रोणीवासः स्तनयुगभरप्रस्खलत्पादवारम् ।

धावन्तीनामनुतनुरुषां योषितां होलिकायां,
　ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ९० ॥
यस्मिन्निन्दो! कुसुमसमये मल्लिकावल्लभां त्वां,
　श्लिष्टा स्नाताः पयसि सरसो वान्ति मत्ता नु वाताः ।
जाते तस्मिन् सुरभिदिवसे कामिनीभिः सहेलं,
　बद्धापानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ९१ ॥
आज्ञागीतं स्मरनरपतेरालपन्ती पिकीयं,
　चूतस्यूतामिनवकलिकाभोजिता गायिकेव ।
शास्ति स्त्रीणां सुरतपदवीं यत्र तत्कामिनीभि-
　र्बद्धापानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ९२ ॥
रक्ताशोके स्मरभट इव प्रोद्यते सर्वलोकं,
　जेतुं रोषारुणदलबलैस्तर्जयत्यध्वनीनान् ।
भामिन्यः स्युः स्वयमपरुषो वर्मिताङ्गे द्विरेफे,-
　र्लोलोल्लासाद् विजितरतयः कञ्चुकाभैः सलीलम् ॥ ९३ ॥
जीर्णच्छायं तरुणतरुणः काननस्य प्रशस्यं,
　सर्वर्तूनां विकचकुसुमैः शोभमानस्य यस्य ।
शोभासाम्यं तुलयति न तन्नन्दनं यत्र पुष्पै,-
　रेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ ९४ ॥
प्राणेशानामितरवनितापादयावाङ्कभाजा,
　भालेनालं रजनिसमयोज्जागरव्याकुलाभ्याम् ।
दृग्भ्यां प्रातर्विरचितशुचां खण्डितानामखण्डो,-
　नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ९५ ॥
पूर्वं गर्वाददहददरो यो हरो भालवह्नि-
　ज्वालाजालैर्यमथ झटिति प्राप्य वेलां जिगीषोः ।
कामस्यैतद्विजयजनको वैरनिर्यातनार्थं,
　तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ ९६ ॥
वीक्ष्योद्याने मणिमयतुलाकोटिनादे प्रशान्ते,
　काञ्चीनादे प्रसरति रतं वैपरीत्येन क्लृप्तम् ।
जायापत्योः स्मयत इव यो भाति फुल्लैः स फुल्ले,-
　र्हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ ९७ ॥
तोयक्रीडाप्रवणरमणीछिन्नहारावकीर्णां,
　मुक्ताचूर्णैर्विकचकमलालङ्कृतां प्राप्य सम्यक् ।

क्रीडावापीमतिजलधरं मानसावासमिन्दो!
न ध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ ९८ ॥
प्रख्यात्येवं विरहदहनज्वालया दह्यमानं,
वक्षोजाग्रं नयनसलिलैः कापि निर्वापयन्ती ।
उत्प्रेक्ष्याग्रे मरणमनघं मेघकालं वसन्तं,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ ९९ ॥
यस्याः काञ्चीरणितमिषतः कामचम्वा निवासान्,
सङ्क्रान्त्या इव हि जघने भाति कोलाहलोऽयम् ।
एको वृक्षश्चरणहननं गाढसंश्लेषमन्यः,
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ॥ १०० ॥
सा द्रष्टव्या गिरिवरदरीवाहिनी काननाली,
प्राणभ्रश्यत्पथिकशलभान् किंशुकात्मप्रदीपान् ।
आयात्सेनारज इव तमो वीक्ष्य भीतश्च कामान्,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ १०१ ॥
वारं वारं वदति हृदयं याहि नाशं प्रसीदा,—
नङ्गो दुःखान्यसति भवति प्रक्षिपेन्न कुत्र क्वाऽपि ।
याते कान्ते परिहृतसुखा क्षीणसर्वाङ्गशोभा,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ १०२ ॥
आयुः क्षीरं पिबति सुतरामेष कालो बिडाल,—
स्तारुण्यं तेऽतिशयचपलं मुञ्च मानं वराकि ! ।
कण्ठाश्लेषं कुरु मयि निजं मा विधाः कोपशोणां,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ १०३ ॥
सङ्क्रीडन्ती सखिभिरभितस्तापसानां तपांसि,
श्यामानीन्दो ! खलु विदधती कज्जलश्यामलाभ्याम् ।
दृग्भ्यां नसान् लवणिमरसैः कामिनः शीतयन्ती,
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ १०४ ॥
कश्चित्कामी विहितसुरतो ध्वस्तधम्मिल्लमालां,
बालामालाद्दलिततिलकां लुप्तसर्वाङ्गरागाम् ।
कृत्वोत्सङ्गे पुलकितवपुः सम्प्रति प्राह कान्ते !,
जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम् ॥ १०५ ॥
दूती ब्रूते प्रणयकुपितं वल्लभं ते प्रियाऽसौ,—
देहे दाहं कुवलयविषं चन्दनं पल्लवौघः ।

ज्योत्स्नां साक्षाज्ज्वलनकणिकां विप्रयोगे भजन्ती,
   इन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्त्ति ॥ १०६ ॥
शुष्यत्यङ्गं भ्रमति नयनं सर्वतो नैति निद्रा-
   लेशो यस्य क्वचन न रतिर्मञ्चके भूतले वा ।
दूती ब्रूते शृणु सखि! कुतः शिक्षितं मौनमेतद्,
   कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ १०७ ॥
आरक्ताक्षैरिव गुरुपिकैः पादपोच्चासनस्थैः,
   कोपाटोपादिह नववधूः पाठ्यते गीतविद्याः ।
पीयूषाभे दयितवदनालोकने लीनचेता,
   भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ १०८ ॥
दृष्ट्वाऽऽयान्तं पथिकमनुजं वाचिक-प्रश्नवार्ता,-
   मेनं यातं कथनमनिशं वायसोड्डायनं च ।
गल्ले हस्तः सततरुदितं दीर्घनिश्वासमोक्षः,
   प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ १०९ ॥
एहि, क्रोधं त्यज, भज शमं, स्वप्रियायाः कवोष्णं,
   चुम्ब प्रेम्णा मधुरमधरं दीर्घनिःश्वासतापैः ।
भूमीभागे नियतलुठनैः कोमलेनापसार्य,
   गल्लाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ ११० ॥
क्वैतत्स्थानं सुरभितरुभिर्भासुरा वासराः क्व,
   क्वेयं रात्रिस्त्रिचतुरदिनस्थायि ते यौवनं क्व ।
दूतीवर्गोऽभवदिति वदन्नानुनेतुं समर्थ,-
   स्त्वामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ १११ ॥
रोम्णां छिद्रैः स्मरशरकृतैर्द्वारवत्याः पुरान्त,-
   र्वेद्धैर्यस्याजिगमिषु बहिर्जीवितं जातमस्ति ।
सेयं शेते न पतिमिलनाकाङ्क्षया कापि रात्रिं,
   तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्यापयन्ती ॥ ११२ ॥
चेतोहारीत्युरसिजयुगं कञ्चुकाकारबिन्दौ,
   क्षिप्तं यस्यास्तरुणवयसा भूभृता श्याममक्त्रम् ।
तन्मोक्षार्थं तरुणमभितः कापि धत्ते दशां स्वा-
   माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥ ११३ ॥

टिप्प०—१ भवनं=भूः प्रादुर्भावस्तां बिभर्त्तीति भूभृत्, तेन भूभृता जायमानेन; यौवनेन अर्थान्तरे—तरुणं वयो यस्य एवंविधेन भूभृता=राज्ञा ।

कस्त्वं काहं व्रज निजसखीं नाहमित्याक्षिपन्ती,
दृष्ट्वा काचिन्मिलितनयनं दष्टदन्तच्छदाङ्कम् ।
प्राणाधीशं मदनकठिना भामिनी चैत्ररात्रौ,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ॥ ११४ ॥

गायन्त्येके यतियुतपदान् रासकान् वादयन्ति,
वीणामन्ये विदधति पुनर्नर्त्तनं रङ्गभूमौ ।
भावीत्येतत् सुरभिरमणं तीर्थराजं गतस्य,
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भातरुक्तं मया यत् ॥ ११५ ॥

शैलस्योच्चैः स्फटिकशिखरप्रस्फुटचन्द्रकोटे-
रारूढस्त्वं मनसि तमसो मा स्म भैषीः कदाचित् ।
नात्रायातं प्रहरति रिपुस्तीर्थयोगेन यस्मा-
त्प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिराद्रान्तरात्मा ॥ ११६ ॥

यत्पर्यन्तान् नगनगरभूभूरुहेषु प्रणाशं,
सम्प्राप्तेषु क्षुभितजलधेर्निर्गतैर्नीरपूरैः ।
न द्रक्ष्यन्ति प्रलयसमये प्रोच्छलद्भिः प्रसर्प-
न्मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ ११७ ॥

शृङ्गे शृङ्गे शशिमणिमये बिम्बिते तावकीने,
पीने बिम्बे शतशशधरं भूधरं प्रेक्ष्य साक्षात् ।
साश्चर्याणां चरणगमनैः स्वौकसेनामरीणां,
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ ११८ ॥

भूप्रेयस्या इव सुमनसा गुम्फितैः केशपाशै,-
र्वृक्षैर्भृङ्गाञ्जनघनभृतैः पद्मिनीकूपकैश्च ।
आयान्त्यग्रे कुतुकितहृदस्ता विधाय प्रियाणां,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थिगाढोपगूढम् ॥ ११९ ॥

दूती वेयं वदति मधुरं नीलकण्ठी पयोदं,
शृङ्गात्तुङ्गाद्विचर चपलां तत्सपत्नीं विहाय ।
क्षीणच्छायां धरणिरमणीं वारिहारान् प्रयच्छन्,
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ १२० ॥

प्रत्यावृत्तौ परममवधिं याममेकं विधाय,
स्मेराक्षीणामिह दिविषदां मण्डलान्यागतानि ।
न स्युर्दृष्ट्वा विविधकुतुकप्रेरितान्यम्बुदानां,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ १२१ ॥

भानोरश्वान् सुखयति रवो निर्झराणामदूर-
स्थानं शंसन् श्रमविगमकृत्तुङ्गभृङ्गैः प्रियस्य ।
मध्याह्नेऽपि श्रमपरिगतान् मन्यते येन लोकैः,
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः ॥ १२२ ॥

स्थास्याम्यत्र क्षणमतिसुखं हारि वारि ह्रदानां,
पास्याम्येषां हरितहरितं शष्पमत्स्यामि गत्वा ।
नित्यं धावंस्तरणितुरगः शृङ्गभागानितीन्दो !,
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ १२३ ॥

पृच्छन्तीव द्विजवररुतैर्भूरुहास्तीरजाताः,
क्षेमोदन्तं सरसि नलिनीं निर्गतां रात्रिखेदैः ।
सापि स्मेराहुमिति सकृत्त्रिःस्वनैर्भाषते यत्,
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ १२४ ॥

पातुं नीरं सर उपगतं चित्रभानोस्तुरङ्गं,
भृङ्गो ब्रूते श्रवसि रसितामोदवित्तो लगित्वा ।
मा त्वं नैषीरविरथमितोऽस्ताचलं पद्मिनीयं,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ १२५ ॥

लग्ना वप्रे परमविषमे भानुना तारकौघा,
नो जीयन्ते कतिचन यथा नैवमन्येऽपि तेन ।
किं जीयेरन् वदति बहुशो यात्रिको यत्र भूभृत्,
पूर्वं स्पृष्टं किल यदि भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ १२६ ॥

तुङ्गैः शृङ्गैः सुरवरगिरौ रोहणाद्रौ मणीनां,
खानिव्रातैः कलमदकलैर्विन्ध्यशैले विलोक्य ।
भिन्नं भिन्नं तदिति कवयः ख्यान्ति शैलेश ! सर्वं,
हन्तैकत्थं क्वचिदपि न ते भीरु ! सादृश्यमस्ति ॥ १२७ ॥

सर्वः शेते निजनिजवधूं गाढमाश्लिष्य बाले !,
यस्मिन् काले सुरतरतिदा वान्ति राजीववाताः ।
एकः कोकीं कथयति रुदन् कोक इत्यात्मशोकं,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ १२८ ॥

यत्राश्चर्यं शृणु कमलिनी मूर्च्छिता हीनहंसा,
त्वत्पादाग्रैर्भवति हि पुनः सा प्रभाते सहंसा ।
स्पृष्टा हंसा गुरुतरकरैर्भान्ति सानूनि तानि,
दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥ १२९ ॥

मध्येऽप्यह्नः सजलजलदैः सेन्द्रनीलस्तुभासै,-
  श्छन्ने भानौ सतिमिरतमीशङ्कितानामिहेन्दो ! ।
दूरोड्डीनं दयितमभितो वीक्ष्य कोकप्रियाणां,
  मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ १३० ॥
शुक्ले पक्षे गतमलकरैरात्तमुक्ताफलाढ्यै,-
  र्लीलोल्लोलैरहरहरमुं वर्द्धयन्त्यम्बुधिः सः ।
दुःखाधीनं निजकहृदयं येन पक्षे तदन्ये,
  गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ १३१ ॥
मौनं मा गा उदितविभवा मा हसीर्मीलिताब्जं,
  मुग्धे ! लब्ध्वा मधुपतरलान्मोन्मनीभूः प्रदोषे ।
शास्तीवेत्थं मृदुकुमुदिनीं तीरगः साधुहंसो
  नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ १३२ ॥
कान्ता कान्तं प्रवदति लता मन्दिराण्योषधीनां,
  स्तोमा दीपाः कुसुमकलिताः पल्लवाः सज्जशय्याः ।
स्थित्वाऽद्य श्वो विरचितलतावेष्टितैः कामकेली,-
  र्निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ १३३ ॥
प्रेमस्थेमप्रकृतिविलसच्छृङ्खलाभिः प्रबद्धां,
  काचिद्भार्यां नवविषगुणैर्द्विर्निबद्धं सुबद्धम् ।
स्वं प्रेयांसं रचयति मुखेनोद्गिरन्ती निशायां,
  दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥ १३४ ॥
श्रुत्वा वीणाक्वणितसरसं किन्नरैर्गीयमानं,
  गीतं तानश्रवणमनसो निश्चलांगाः कुरङ्गाः ।
नाहारं ते सुभग ! मिलिते प्रायशः सर्वलोका,
  इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ १३५ ॥
सातासाते इह हि नियते केनचिन्नानुभूते,
  भूते चास्तं शशिनि किमतो दूयसे हे चकोरि ! ।
आयातव्यं पुनरिति खगाः प्राहुरासाद्य कालं,
  प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥ १३६ ॥
भृङ्गे भृङ्गे सुरतरुगणाः श्रेयसां संचया वा,
  दाने सानंदितसुमनसो भासमानाः समानाः ।
यच्छन्त्येवावचनरचना याचिता याचकेभ्यः
  प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ १३७ ॥

टिप्प०—१ अर्थान्तरे तीरमर्थात्संसारस्य गच्छतीति तीरगः=संसारपारगामी साधुहंस इव, साधुहंसः=प्रधानसाधुः, कौ मोदते कुमुत, स चासौ इनश्च कुमुदिनस्तस्य स्त्री कुमुदिनी तां राज्ञीमित्यर्थः, तां गर्वितां साधुः प्रबोधयतीत्यर्थः ॥ १३२ ॥

यत्रायाते शिरसि पयसां प्रागयं संघकर्तॄन्,
धारापातैः स्नवनममयन् भद्रराजादनीद्रुम् ।
आशीर्वादानददुरमरान् कुर्वतो धर्मलक्ष्मीं
माभूदेवं क्षणमपि चते विद्युता विप्रयोगः ॥ १३८ ॥

हत्वा कोटीर्दश युधि नृणां कोटिभिस्तावतीभिः,
सार्द्धं प्राप्तं जिनपतिरभिद्राविडं वालिखिल्लम् ।
सिद्धिं प्रादात् सदयहृदयो लब्धलाभार्थकानां,
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना चोत्तमेषु ॥ १३९ ॥

भक्तिस्थानां हरति दुरितं न्यक्कृतश्रीकपर्दी,
प्राज्यं राज्यं वितरति पुनः पापमर्दी कपर्दी ।
यक्षाधीशो गिरिमधिवसन् योऽधनानां जनानां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ १४० ॥

द्रागारोहेरचलमथ तं यत्र दुष्टोऽपि सर्पो,-
ऽपीशानेन्द्रोऽजनि विजयिनि श्रीयुगादीशदेवे ।
अद्यापीन्दो! शबरकुलजः क्रूरकर्मोग्रधर्मा,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ १४१ ॥

नष्टं कुष्ठं यदुपतिमहीपालभूपालदेहा,-
द्यस्मिन् स्नानाद्यतिवधकृते शौर्यकुण्डं तदम्भः ।
त्वय्युद्याते मरकततुलच्छायया श्यामशोभं,
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ १४२ ॥

ऊर्ध्वीकर्तुं मरुदपि निशी नेहसीन्दो! न शक्तो,
यासां शाटीं प्रचुरतिमिरे ब्रह्मचर्यं श्रितानाम् ।
तासां स्वप्ने कथमिह नृणां सङ्गमेनाङ्गनानां,
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ १४३ ॥

आसेवन्ते धरणिरमणाः सत्कदम्बाञ्चितम्बान्,
यस्य त्यक्त्वा मृगचलदृशां श्रीप्रलम्बाञ्चितम्बान् ।
नेच्छन्तीनां क्षणमपि रते पञ्चबाणस्य पाशं,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थिगाढोपगूढम् ॥ १४४ ॥

टिप्प०—१ किम्भूतया लक्ष्म्या ? चते विद्युता, 'चते याचने' इत्यस्य कर्तरि अप्रत्यये रूपम्, जातौ चैकवचनम्, चतन्त इति चताः=याचकास्तेषु विशेषणद्योतने दानादिनेति विद्युता ॥ १३८ ॥

२ चन्द्रस्य मीनभोक्तृत्वात् (?) तत्र चन्द्रागमने मीनक्षोभो भवति । मीनक्षोभे च पानीयं चपलं भवति, तच्च मरकततल-सम्बन्धात्पानीयमपि श्यामलं, तेन तच्चलत् चलकुवलयसाम्यं लभत इति भावः । नीलकृष्णयोरैक्यम् ॥ १४२ ॥

गङ्गाभङ्गीसलिलविमलांस्तस्य शृङ्गे तपस्य,-
द्राजर्षीणां परममहसां त्वं गुणान् मोक्षमार्गम् ।
तेषां राकाभरण ! भणतां नाकिनं नाकजां वा,
वक्तुं धीरस्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ १४५ ॥

ध्यायन्त्यर्हन्मयमिह महः सन्दधानास्तपांसि,
प्राणायामेऽप्रसृतमतयः पञ्चभिर्द्धारणाभिः ।
लब्धानन्दा मुनय उचिता नाहतैर्योगिगम्यै,-
र्मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलाबन्धमोक्षोत्सुकानि ॥ १४६ ॥

सच्छैलेशीकरणरचनात्यक्तयोगप्रयोगाः,
शृण्वन्तीवावहितमनसः केवलज्ञानमित्रात् ।
सत्यां वार्त्तां नवशिववधूसङ्गतां प्रेयसां यत्
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः ॥ १४७ ॥

कायोत्सर्गाश्चपलतनुषु स्कन्धकण्डूयनानि,
येषु स्तम्भेष्विव वनचराः कुर्वते गाव इन्दो ! ।
योगस्तेषां रहसि मनसि प्रोज्झिते दोषदुष्टैः,
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ १४८ ॥

अस्मिन् शैले श्रमणनिकराः कन्दरद्वारसंस्था,
ध्यानप्रान्ते चरणलुठिताः सिंहसारङ्गशावाः ।
आपृच्छन्ते हिमकर ! सदा देहनीरोगतां यत्,
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ १४९ ॥

तत्राख्येयं प्रति जिनमिति त्वादृशे सत्यधीशे,
यन्मे कष्टं भवति भवभीहेतुलज्जा तवैषा ।
कुर्यास्तस्मान्मयि निजकृपां सेवकस्तावकोऽयं
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ १५० ॥

मोहो यस्मात् प्रहरति न तान् ये हृदम्भोरुहेशं,
ध्यायन्त्यस्याद्यवयवपदं कुम्भकेनाश्रयन्तम् ।
किं स्यादस्मादिह मम भयं मस्तकं यत्प्रणामैः,
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ १५१ ॥

स्वार्थाशक्ते जगति निखिले मातृपित्रादिलोके,
धत्ते चेतो मम रतिपदं तेन कुत्रापि नात्र ।
यस्मात्स्वार्थानुपहतमतिर्विश्वविश्वैकबन्धो !
हन्तैकस्यं क्वचिदपि न ते मीरु ! सादृश्यमस्ति ॥ १५२ ॥

रूपं सर्वामरसमधिकं धीरता, जित्वरीयं,
सौवर्णाद्रेरुपकृतिरतिः शत्रुमित्रेषु तुल्या ।
तेजःस्फूर्तिर्जितरविशता विश्वबन्धो ! परस्मिन्,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न तेऽमीरुसादृश्यमस्ति ॥ १५३ ॥
स्वापे पापे मुनिवर ! निशायामयुग्मे व्यतीते,
शीर्षं हर्षात्तव चरणयोर्यावदायोजयामि ।
तावत्तस्याभवदहह होच्छेद एवातिखेदः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ १५४ ॥
पादाङ्गुष्ठात् प्रसृतिविधिना ब्रह्मरन्ध्रं प्रशान्तः,
स्वान्तं साकं सततगतिना प्रापयिष्ये कदाहम् ।
स्वामिन्नग्रे तव नवशिलामण्डलानि श्रयित्वा,
दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥ १५५ ॥
मैत्रीप्राप्तं प्रगुणकरुणं भृङ्गमन्यद्व्रजन्तं,
मामालोक्योद्दलितकलुषं प्राप्तधर्मश्रुतीनाम् ।
हंसादीनामिह सुचयसां धर्मरागात् सदार्हन् !
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ १५६ ॥
मातुस्तस्यास्तव जिनपते ! सानुमायातभानुं,
श्रित्वात्मानं कलुषमलिनं निर्मलं संविधास्ये ।
ध्यानाम्भोभिर्जिनवर ! यया जीवितं श्वासशेषं,
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ १५७ ॥
पुण्याहं मे जिनवर ! कदा योगलीनस्य भावि,
लप्स्ये यस्मिन्नपररचिते निन्दने वन्दने च ।
खेदामोदाविति हृदि विदन् कर्मणा प्राणभाजां,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ १५८ ॥
एह्यायुष्मन् ! वस मम गृहं गाढमालिङ्ग चुम्बन्,
बिम्बाभौष्ठौ पुनरपि गतं यौवनं केन लभ्यम् ।
योगानावां तदनुतपसा पर्वतेऽस्मिन् जरन्तौ,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ १५९ ॥
मुर्वीं शल्लीमिव परिहरन्नित्थमभ्यर्थयन्तीं
कायोत्सर्गैः शिशिर-रजनीस्त्वत्पुरः पूरयिष्ये ।
तस्या वाक्यं हृदयविशिखं चेतसा चावजानन्
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥ १६० ॥

रूपं द्रष्टुं मम गतरुषी चक्षुषी क्षीरगौरीं,
　　कीर्तिं श्रोतुं श्रवणयुगलं स्तोतुकामा रसज्ञा ।
त्वामर्हन्तं यदिह सुहृदां दूरगे सर्वभावा,
　　इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ १६१ ॥
स्नेहः स्वामिन् ! मनसि मम यो ज्ञातमेवास्ति तत्ते
　　त्वामभ्यायात्त्वरितमिव तद्देहतः पूर्वमेतत् ।
रूपालोकामृतमनुपमं पाययित्वा चिराय,
　　प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥ १६२ ॥
युष्मन्नामस्मरणविधिभिर्वासरान् पूरयन् वो,
　　याचेऽर्थैकं वितरत मुदा स्पर्शनं दर्शनं मे ।
वाक्चातुर्यं विदधति नहि प्रार्थितेऽर्थे महान्तः,
　　प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ १६३ ॥
इत्याद्युक्तं सकलमपि मे धर्मबुद्ध्योपकारं,
　　सारं मत्वा वद जिनपतिं तेन पुण्येन पुण्यम् ।
आज्ञया बध्वा जलमुच इव प्रावृषेण्यस्य बन्धो !
　　मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ १६४ ॥
सोऽयं राजा प्रकृतिनिकरं रञ्जयन्नुक्तमार्गं,
　　लात्वा गत्वा प्रहसितरुचाऽवोचत स्वामिनोऽमून् ।
ताराचारुप्रियसहचरीगीयमानावदातः,
　　केषां न स्यादभिमतफलप्रार्थना चोत्तमेषु ॥ १६५ ॥
नित्यं वन्दे निहतदुरितं तस्य पादारविन्दं,
　　भद्रस्यन्दि प्रथितयशसो भृङ्गलीलां दधानः ।
श्रीनाभेयः सदयहृदयोऽस्मादृशान् सेवकान् यो,
　　भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ १६६ ॥
श्रीसाधुकीर्तिपाठकशिष्याणां सकलकविधुरीणानाम् ।
श्रीविमलतिलकगणिवरवाचकवरसाधुसुन्दरगणीनाम् ॥ १६७ ॥
शिष्याणुको विमलकीर्तिगणिप्रधानो
　　नाभेयदेवचरणाम्बुजराजहंसः ।
श्रीमेघदूतवरकाव्यगतान्तपादैः,
　　श्रीचन्द्रदूतमकरोत् सरसैर्वचोभिः ॥ १६८ ॥
इन्दु-सिद्धि-रस-क्षोणिमिते संवति शंवति ।
महाकाव्यमकारीदं, विद्वद्विमलकीर्तिभिः ॥ १६९ ॥

॥ इति श्रीमेघदूतान्तपादसंग्रथितं श्रीचन्द्रदूतं काव्यं समाप्तम् ॥

श्रीखरतरगच्छावतंसज्ञानविमलोपाध्यायशिष्य-वाचनाचार्य-श्रीवल्लभगणिविरचितं

विद्वत्प्रबोधशास्त्रम् ।

अवचूर्ण्यलङ्कृतम् ॥

सारदां शारदां देवीं, श्रीगुरुं सुगुरुं पुनः ।
प्रणम्य क्रियते शास्त्रं, विद्वत्प्रबोधनामकम् ॥ १ ॥
तत्र संयोगिवर्णौघै,-र्वर्ण्यते वस्तुवर्णना ।
सकर्णलब्धवर्णानां, प्रबोधाय प्रबोधदा ॥ २ ॥
तत्रास्मिन् प्राक् परिच्छेदे, वर्णनं क्रियतेऽधुना ।
गजाश्ववृषभादीनां, चतुश्चरणधारिणाम् ॥ ३ ॥

* * * *

क्ष्मातले गजघटा प्रकटेष्टे, क्ष्मावलीकृदिव सज्जलदाली ।
क्ष्मापतीन्द्र ! हृदयस्य मोददा, क्ष्मारिराजिरनिशं मददीप्ता ॥ ४ ॥
क्ष्मिप्रभेन्द्रहरिकालनैर्ऋत,-क्ष्मानिलैलविलकेशदिग्धवाः ।
क्ष्मावलेन रचयन्ति यत्स्तुतिं, क्ष्मस्फुटा द्विपघटा विभाति सा ॥ ५ ॥
क्ष्थालिहृद्दशदिशो धृता यतः, क्ष्थं हरन्त्यविकलं तया हि च ।
क्ष्थो नृणां कथयतीत्ययं जनः, क्ष्थेड् न किं भवति वै स्वकार्थिकः ॥ युग्मम् ॥६॥

क्ष्मा=भूस्तस्याः पतयस्तेषामिन्द्रस्तत्सम्बोधने हे क्ष्मापतीन्द्र=नृपनाथ ! क्ष्मायाः=भुवस्तलं तत्र प्रकटा गजघटा अनिशम् ईष्टे । केव ? सज्जलदालीव=सन्मेघश्रेणिरिव । किम्भूता सज्जलदाली ? क्ष्मानां=धान्यकणानाम् आवली तां करोतीति क्विपि क्ष्मावलीकृत् । किम्भूता गजघटा ? हृदयस्य मोददा । पुनः किम्भूता गजघटा ? क्ष्मा=छिन्ना अरिराजिर्यया सा तथा । पुनः किं० गजघटा ? मददीप्ता ॥४॥........ मित्वेन क्ष्थेड्=राजा तदामन्त्रणं हे क्ष्थेड् ! राजन् ! सा द्विपघटा विभाति । किम्भूतः हे क्ष्थेड् ? क्ष्मिः=सूर्यस्तद्वत्प्रतापो यस्य स तदामन्त्रणम् । सा का ? यस्याः द्विपघटायाः स्तुतिः यत्स्तुतिः, तां रचयन्ति=कुर्वन्ति । के ? इन्द्रश्च हरिश्च कालश्च=यमः नैर्ऋतश्च क्ष्मश्च=वरुणः अनिलश्च=वायुः ऐलविलकश्च=कुबेरः, ईशश्च=ईशानः—इन्द्रहरिकालनैर्ऋतक्ष्मानिलैलविलकेशाः, ते च ते दिग्धवाश्च=दिक्पतयः—इन्द्रहरिकालनैर्ऋतक्ष्मानिलैलविलकेशदिग्धवाः । केन ? क्ष्मा=वाक् तस्या वलं तेन=वाक्पाटवेनेत्यर्थः । दिक्पतयः स्तुतिं रचयन्ति तत्र हेतुमाह—यतः यस्मात्कारणात् तया द्विपघटया दशदिशो धृताः, अतः कारणादेव स्तुवन्तीति । को भावः ? दिशां धारका गजाः । इन्द्राद्याश्च दिशांपतयः । गजाश्च दिशस्तदैव धरन्ति यदा सन्तोषिता भवन्ति । सन्तोषित एव कार्यं करोत्यन्योऽपीति लोकोक्तिः, अत एव इन्द्रादीनां स्वार्थः, तेन द्विपघटां तावकीं दृष्ट्वा दिग्गजभ्रान्त्या स्तुवन्तीति भावः । हि=यस्मात् कारणात् नृणां क्ष्थो=मनुष्याणां

सङ्ग इति कथयति, इतीति किम्? अयं जनः वै=स्फुटार्थे, अयं जनः स्वकार्थिकः=स्वार्थी किं न भवति अपि तु भवतीत्यर्थः। काकाऽत्र नञ्, यतो यस्य स्वार्थं भवति स तस्य वर्णनं करोत्येवाऽतो गजान् दिग्धर्तृत्वे-नेन्द्राद्याः स्तुवन्तीति। किम्भूता द्विपघटा? केन=ज्योतिषा बलकान्त्या स्फुटा कस्फुटा। पुनः किम्भूता द्विपघटा? कथस्य=दुःखस्य आलिः कथालिः, तां हरतीति कथालिहृत्। किं कुर्वाणा द्विपघटा? अविकलं सर्वं कं=दैन्यं हरन्ती ॥ ६ ॥ युग्मम् ॥

कथावलीहरणतत्परोद्धुरा, कथावली ह्यलति मञ्जुलोद्बला।
कथापते! तव घनार्जितश्रियः, कथेन चैव तदवापनं यतः ॥ ७ ॥

कथायाः=भुवः पतिः कथापतिस्तत्संबुद्धौ हे कथापते! नृप! तव कथानां गजानामावली कथावली हि=निश्चितमलति=दीप्यते। किम्भूता कथावली? कथावलीहरणतत्परा=दुःखश्रेणिहरणप्रह्वा। उद्धुरा= उत्कटा। किम्भूता? मञ्जुलोद्बला—मञ्जुलम् उत्कृष्टं च बलं यस्याः सा तथा। किम्भूतस्य तव? घनाऽ-र्जितश्रियः यतः=यस्मात्कारणात् केन=धनेनैव तदवापनं=गजघटाप्रापणं भवति, अत एव घनार्जितश्री-रिति विशेषणम् ॥ ७ ॥

क्रप्रदस्तव गजः स सङ्गरे, क्राधिनाथ! हरति द्विषां बलम्।
क्रद्वयस्य सुखकारि यद् यशः, क्रुप्रसद्मविहितस्थितीन्दति ॥ ८ ॥

हे क्राधिनाथ हे नृपते! तव स गजः सङ्गरे=युद्धे द्विषां बलं हरति। स कः? यद्यशः=जय-कीर्त्तिः इन्दति, इदु परमैश्वर्ये। किम्भूतो गजः? क्रप्रदः=उत्सवदाता, किम्भूतं यद्यशः? क्रद्वयस्य=कर्ण-युग्मस्य सुखकारि। पुनः किम्भूतं यद्यशः? क्रवः=समुद्रास्त एव प्रसद्म तत्र विहिता स्थितिर्येन तत् क्रुप्रसद्मविहितस्थिति ॥ ८ ॥

कमोज्झिता अपि यतीश्वरा यकं, कमायुताः सततमर्कयन्त्यरम्।
कमूप्रभाप्रतिभदन्तसुन्दरः, कमक्षमक्षितिप भाति स द्विपः ॥ ९ ॥

हे क्षितिप! भूप! स द्विपः=गजः भाति। स कः? यकं यतीश्वरा अपि सततं=प्रत्यहं अर्कयन्ति= स्तुवन्ति। किम्भूता यतीश्वराः? कमोज्झिताः=कन्दर्परहिताः। पुनः किम्भूता यतीश्वराः? कमया=रत्या युताः कमायुताः। किम्भूतो द्विपः? कमः=शङ्खस्तस्य प्रभा तया प्रतिभौ=सदृशौ यौ दन्तौ ताभ्यां सुन्दरो यः स तथा। किंभूत हे क्षितिप!? कमेषु कर्मक्षमः=समर्थो यः स तथा तत्सम्बोधनम् ॥ ९ ॥

क्यप्रताप! नृपतीन्द्र! तावकः, क्यप्रतप्तघनगोलबिन्दुयुक्।
क्यब्विलोप इव पञ्चमीं गजः, क्यऽद्भुतेभसम आपताज्जयम् ॥ १० ॥

इति गजवर्णनम्।

हे नृपतीन्द्र! तावको गजो जयम् आपतात्=प्राप्यात्, अप्तृण् लम्भने यौजादिकः। कां क इव? पञ्चमीं विभक्तिं क्यब्विलोप इव, यथा क्यप्लोपः कर्मणोऽर्थे अधिकरणस्यार्थे च पञ्चमीं=पञ्चमीविभक्तिं प्राप्नोति तथा गजो जयं प्राप्नुयादित्यर्थः। किम्भूत हे नृपतीन्द्र! क्यः=सूर्यः स इव प्रतापो यस्य स तथा तदामन्त्रणम्। किम्भूतो गजः? क्यः=अग्निस्तेन प्रतप्तोऽयोघनगोलो=लोहगोलकस्तद्वद् ये रक्ता बिन्दवस्तैः

युक् युक्तो यः स तथा रक्तबिन्दुमानित्यर्थः। पुनः किम्भूतः गजः? कः=इन्द्रस्तस्य योऽद्भुतेभः=सम्यक्-हस्ती तेन समः=समानो यः स तथा ॥ १० ॥ इति गजवर्णनम् ॥

क्रामति क्षितिपते! तुरङ्गमः, क्रष्टुमाश्वरिभुवं जयावहः।
क्रष्टृवच्चतुरताविराजित!, क्रान्तशक्रतुरगप्रमोदयः ॥ ११ ॥

हे क्षितिपते नृप! तुरङ्गमः=अश्वः क्रामति=पादविक्षेपं करोति। किं कर्तुम्? आशु=शीघ्रम् अरिभुवं=रिपुपृथ्वीं क्रष्टुं=विलिखितुम्। किंवत्? क्रष्टृवत् कर्षुक इव, यथा कर्षुको भुवं क्रष्टुं क्रामति तथा। किम्भूतस्तुरङ्गमः? जयावहः। किम्भूत हे क्षितिपते!? चतुरताविराजित!। पुनः किम्भूतस्तुरङ्गमः? क्रान्तः शक्रतुरगस्य=उच्चैःश्रवसोऽश्वस्य प्रमोदयः=शोभोदयो येन स तथा ॥ ११ ॥

क्लेशितातुलबलावलोकन,–क्लेशकारकविपक्षपक्षकः।
क्लीबतारहितचेतसां विशां, क्लान्तिकृज्जयति भूपते! हयः ॥ १२ ॥

हे भूपते! हयो जयति। किम्भूतो हयः? 'क्लिशि बाधने' क्लेशितः=अतुलबलावलोकनेन क्लेशकारक-विपक्षाणां पक्षो येन स तथा। पुनः किम्भूतो हयः? क्लीबतारहितचेतसां विशां=नृणां क्लान्तिकृत् ॥ १२ ॥

क्वाप्यवस्थितिमसावनाप्नुवन्, क्वाथ हा! हरिहयो हरिं श्रितः।
क्वां हयोऽसति यदोजसा जितः, क्वाण एष जगतीति वर्त्तते ॥ १३ ॥

जगति=लोके एषः प्रत्यक्षः क्वाणः=शब्द इति वर्त्तते। इतीति किम्? स हयः क्वां=पृथ्व्याम् असति=दीप्यते। स कः? यदोजसाऽसौ हरिहयः=उच्चैःश्रवाः जितः सन् क्वापि अवस्थितिम् अनाप्नु-वन्, हरिम्=इन्द्रं श्रितः=आश्रितः। किम्भूतो हयः? क्वाथहा=दुःखहा ॥ १३ ॥

ख्यातकीर्त्तिरसकौ हयो वरः, ख्यातियत्यविकलं जयं तव।
ख्यातिमन्नृप! सुलालिकामिषैः, ख्यान्ति पण्डितजना इति स्फुटम् ॥ १४ ॥

पण्डितजना इति स्फुटं ख्यान्ति=कथयन्ति। इतीति किम्? हे नृप! असकौ हयः तव खलु=निश्चितम् अविकलं जयं ख्याति=आचष्टे। कैः? सुलालिकामिषैः=शोभनलालाव्याजैः। किम्भूतो हयः? ख्यातकीर्त्तिः। पुनः किंभूतो हयः? वरः। किंभूत हे नृप? ख्यातिमन्!॥ १४ ॥

ख-क्षमापतिततिप्रणाशक,–खाधिनाथ! विचरँस्तुरङ्गमः।
खं प्रयच्छति तवारिसन्ततेः, खं विनैव कुतुकं त्विदं महत् ॥ १५ ॥

हे खाधिनाथ! भूपाल! तुरङ्गमः विचरन् सन् तवारिसन्ततेः खं=खड्गं विनैव खं=मरणं प्रय-च्छति, इदं महत् कुतुकम्। किं०? हे खाधिनाथ! खाः=दुष्टहृदयाः ये क्षमापतयस्तेषां ततिस्तस्याः प्रणाशकस्तदामन्त्रणम् ॥ १५ ॥

खलावली छलति तावदुद्बलं, खलावलीव सकलं प्रजाबलम्।
खलाकुला खलु मिलत्यहो! न भू,–खलापते! तव हयः पुमानिव ॥ १६ ॥

भूरेव खला=स्त्री तस्याः पतिस्तदामन्त्रणं हे भूखलापते! खलावली=दुर्जनश्रेणिः उद्बलम्=उत्कृष्ट-बलं सकलं प्रजाबलं तावत् छलति, अत्र यावदिति पदमध्याहार्यम्, अहो इत्याश्चर्ये, खलु=निश्चितं तव हयः पुमानिव न मिलति ॥ १६ ॥

ग्यां गजावितवराः सुवागरा, ग्यं यदीयमनिशं स्तुवन्त्यरम् ।
ग्यद्भुतोदितजयप्रदीप्यते, ग्यद्विषन् स तुरगो महीपते ! ॥ १७ ॥
ग्रस्तसंगररुजां सुभूभुजां, ग्रावराजसमधैर्यसंयुजाम् ।
ग्रासवन्मदकरोऽरिसंपदा, ग्राममाशु हरतीश ! ते हयः ॥ १८ ॥

इत्यश्ववर्णनम् ।

ग्लानतारहितपीनभूघनो, ग्लौलसत्किरणकोटितुल्यरुक् ।
ग्लायति प्रबलमाश्वरां यतो,-ग्लांगुणेश ! नृप ! भाति गौः स ते ॥ १९ ॥
ग्वः प्रदीप्यत इलापतेऽनिशं, ग्वावलीषु सबलोऽमलाङ्गरुक् ।
ग्वाधिनाथ ! वृषभप्रमोदयो,-ग्वद्भुताङ्ग वसुधापते ! तव ॥ २० ॥
घ्नप्रदाभनिनदो नदन्नरं, घ्नाति दीप्तिततियुक् ककुद्युतः ।
घ्नोऽतिदुष्कृतततेर्विराजते, घ्नामणिप्रतिम ! भूप ! ते वृषः ॥ २१ ॥
घ्याशयान्तरसिताङ्गदीधिति,-घ्र्यद्भुतेद्धजनचित्तहर्षदः ।
घ्यादिदेवविसराः स्तुवन्त्यरं, घ्यक्र्यरुक् यम स ते वृषः सकः ॥ २२ ॥
घ्रप्रभो ! गुणसुमङ्गलश्रिया, घ्रं वरं प्रविदधान इन्दति ।
घ्राणभूषणयुतो महातनु,-घ्रानिनक्षितिप ! तावको वृषः ॥ २३ ॥
घ्लारोहसन्दोहफलीकृताङ्ग,-घ्लौजो विराजी नृप ! राजते ते ।
घ्लोर्जस्व्यऽनड्वान् वृषभो वृषेभो, घ्लालीलसल्लक्षणलुब्धचेतः ! ॥ २४ ॥
घ्वेतिनिस्वनमिषेण मेघजं, घ्वं जयंश्च विदधाति ते स्तुतिम् ।
घ्वीश्वरत्वदतनुस्फुरद्गुण, घ्वादनेन सुमना वृषोऽमको ॥ २५ ॥
ङ्राधिनाथ ! जनयत्ययं वृषो,-ऽङ्प्रधानमुदमुत्तमां नृणाम् ।
ङ्रावलीशरणदायकाग्रणी,-ङ्रोद्धुरोरथ धुरन्धरोत्तरः ॥ २६ ॥
च्यावयन् धवलपद्ममण्डलीं, च्योतिताऽपरसितार्थकान्तिभिः ।
च्यावयत्यतनुभारमुद्धुरां, च्याति सुन्दरगते ! महीपते ! ॥ २७ ॥

इति वृषभवर्णनम् ।

च्रावलीस्तुतगुणौघभूपते ! च्राति, चक्षुरमहौजसो हरिः ।
च्रापवर्जित उदारसारयुक्, च्रोदितस्य विश एति सम्मदम् । ॥ २८ ॥
छ्योघं यथा चित्रक आशु तुष्य,-च्छ्यामाङ्गरोचिर्हरति प्रकामम् ।
छ्यारञ्जकोर्वीश ! हरिस्तथाऽयं, छ्याढ्यस्त्वदीयो रिपुहस्तिवृन्दम् ॥ २९ ॥
छ्र इव हन्ति तिरश्च इमां ततिं, छ्रवियुतो नृपते ! नखरायुधः ।
छ्रततिनाशविधिप्रवणक्रमः, छ्ररहिताद्भुतवर्णमणीगण ! ॥ ३० ॥
छ्लोत्कटान् प्रकटकान् सदोल्लस,-छ्लक्ष्णलक्ष्मिकलितानरिद्विपान् ।
छ्लायुतो हरिरयं हिनस्त्यल,-छ्लिष्टकीर्तिकमलाऽचलापते ! ॥ ३१ ॥

छ्वावन्महीपाल! महाबलिष्ठ,–छ्वाद्यासुमत्पालनसावधान! ।
छ्वज्ञप्तिमूर्त्ते! तव भाति भास्व,–च्छ्वासो हरिः प्राज्ञजनाऽर्कणीयः ॥ ३२ ॥

छ्वा=छविर्विद्यते यस्य स छ्वावान् तदामन्त्रणम् । छ्वः=छाग आद्यो येषां ते छ्वाद्याः, ते च ते असुमन्तश्च=प्राणिनः छ्वाद्यासुमन्तः, तेषां पालने सावधानो यः स तथा तदामन्त्रणम् । छ्वे=स्वच्छे ज्ञप्ति-मूर्त्ती यस्य स तथा तत्सम्बोधनम् । ज्ञप्तिः=बुद्धिः ॥ ३२ ॥

ज्यायानसौ भाति हरिस्त्वदीयो, ज्यायामतो नास्त्यपरो बलीयान् ।
ज्यानाथविख्यातयशः! प्रधाने,–ज्यः शोभमानोष्ठविशिष्टवक्त्रः ॥ ३३ ॥

ज्यानाथविख्यातयशः=भूनाथख्यातकीर्ते ! । प्रधानेज्यः=शोभनपूजः ॥ ३३ ॥

ज्रज्वालिकातापितहेमविद्यु,–ज्ज्रोद्भासिनेत्रो वरपीवरोरुः ।
ज्रं राजते त्वद्धरिरेष दिव्यो, ज्रश्रीतिरस्कृत्कमलाऽचलेश! ॥ ३४ ॥

ज्रज्वालिकाभिः=अग्निज्वालाभिस्तापितं यद्धेम ज्रज्वालिकातापितहेम, तच्च विद्युच्च ज्रज्वालिका-तापितहेमविद्युतौ, तयोरिव ज्रोद्भासिनी वृद्धदीप्यमाने नेत्रे यस्य स तथा पीतनेत्रत्वात्सिंहस्य । ज्रं=अजस्रम् ॥ ३४ ॥

ज्वालावलीदुस्सहसत्प्रताप,–ज्वाक्रान्तभूपालकलाऽचलेश! ।
ज्वालाऽऽभचक्षू रसनाऽतिरक्ता, ज्वा दीप्यते यस्य हरिः स कस्ते? ॥ ३५ ॥

ज्वेन=वेगेन आक्रान्ता भूपालानां कला येन स तथा तदामन्त्रणम् । ज्वालाभे=ज्वालासदृक्षे चक्षुषी यस्य स तथा । किम्भूता रसना ? ज्वा=चञ्चला लपलपायमानत्वात् ॥ ३५ ॥

झ्यानाथतीरे तव यस्य कीर्त्तिं, झ्योघाकुले गायति देववृन्दः ।
झ्यैश्वर्यमेकाकिनमाप्नुवन्तं, झ्याढ्याऽवनीनाथ! हरिं स पश्य ॥ ३६ ॥

हे अवनीनाथ !=भूपाल ! स त्वं हरिं=सिंहं पश्य=विलोकय । किं कुर्वन्तं हरिम् ? आप्नुवन्तं=प्राप्नुवन्तम्, किं तत् ? झ्यैश्वर्यं=हस्त्याधिपत्यम् । झीशब्द ईवन्तो हस्तिवाचक एकाक्षरकोषे । किंविशिष्टं हरिम् ? एकाकिनं, स त्वं पश्य । स इति कः ? यस्य तव कीर्त्तिं=यशः देववृन्दो गायति । क? झ्यानाथ-तीरे–झ्याः=नद्यस्तासां नाथो झ्यानाथः=समुद्रस्तस्य तीरे=तटे । किम्भूते झ्योघाकुले–झ्यानां=द्रहानाम् ओघो=वृन्दं तेनाकुलो यः स तथा तस्मिन् । किम्भूत हे अवनीनाथ! झ्याढ्य कलाढ्य! । इदन्तो झिशब्दः कलावाचकः ॥ ३६ ॥

झ्रां करोत्यरिमृगावलेर्नृप! झ्रोर्जधार्यऽविरतं मृगाधिपः ।
झ्रस्थिरप्रवरवृत्तदंष्ट्रिको, झ्रातिमुक्तवरकेसरच्छटः ॥ ३७ ॥

किम्भूतो मृगाधिपः ? झ्रोर्जधारी=कठोरबलधारी । ऊर्जशब्दो बलवाची अदन्तोऽप्यस्ति । पुनः किम्भूतो मृगाधिपः ? झ्राश्च=पुष्टाः स्थिराश्च प्रवराश्च वृत्ताश्च दंष्ट्रा विद्यन्ते यस्य स तथा । पुनः किं० ? झ्रा=जरा तयाऽतिशयेन मुक्तः=रहितो यः स झ्रातिमुक्तः, स चासौ वरकेसरच्छटश्च झ्रारहितवर-केसरच्छटः ॥ ३७ ॥

इवाधवादिमुनिसङ्घसेवक,–इवोघचित्तमददायिकीर्त्तिसन् ! ।
इवाद्मरो नर इवाऽलते बली, इवङ्कहृन्नरपते ! हरिस्तव ॥ ३८ ॥

हे नरपते ! तव हरिः=सिंहः अलते=शोभते, किम्भूतः सन् ? बली=बलवान् सन् । क इव ? इवाद्मरो=दधिभोक्ता नर इव, यथा दधिभोक्ता मर्त्यः बली शोभते तथा । किम्भूत हे नरपते ! इवा=अरुन्धती तस्या धवो=भर्त्ता इवाधवः=वसिष्ठः, स आदिर्येषां ते इवाधवादयः, ते च ते मुनयस्तेषां सङ्घस्तस्य सेवकस्तदामन्त्रणम् । इ्शब्देन देवास्तेषामोघस्तस्य चित्तमददायिनी या कीर्त्तिस्तया सन्=प्रधानस्तदामन्त्रणम् । इश्च शोकः, अङ्कं च दुःखं ते हरतीति क्विपि इवङ्कहृन्, तदामन्त्रणम् ॥ ३८ ॥

ञ्युत्तमोच्छ्वसितपुच्छशोभितो, ञ्यग्रणीड्य ! नरनाथ ! तावकः ।
ञ्या रहाश्च रमणीयवीक्ष्यकृद्, ञ्यामताप ! रमतेतरां हरिः ॥ ३९ ॥

हे नरनाथ ! तावको हरिः रमतेतराम् । किम्भूतो हरिः ? ञिशब्देन ज्ञानवृद्धास्तेषूत्तमस्तत्सम्बोधनम् । पुनः किं० ? ञिशब्देन सम्राजस्तेषु अग्रण्यस्तेषामीड्यः=स्तुत्यस्तदामन्त्रणं ञिसम्राट्, तत्र तदारं च ञ्यारं, तद् हन्तीति ञ्यारहा क्विबिलनेन क्विप् । वीक्ष्यम्=आश्चर्यं करोतीति वीक्ष्यकृद्, रमणीयश्चासौ वीक्ष्यकृच्च०, सिंहस्यैतद्विशेषणद्वयम् । ञिः=अग्निस्तदाभस्तापः=प्रतापो यस्य स तथा तदामन्त्रणम् ॥३९॥

ञ्रावलीक्षितिविधानतत्पर !, ञ्राभिरञ्जितमहाप्रजाऽरजः ।
ञ्राभिभूतगजराज ! राजते, आभियुक्तहरिरेष तावकः ॥ ४० ॥
ट्यानाथदंष्ट्रातिविडम्बितास्यं, ट्याघूर्मितं पश्य सुदृश्यशौर्यम् ।
ट्यालीबलं स्राक् खलु नाशयन्तं, ट्योघारिमेनं मृगराजमग्रम् ॥ ४१ ॥

ट्या=पृथ्वी तस्या नाथः=स्वामी ट्यानाथस्तत्सम्बुद्धौ हे ट्यानाथ ! भूपते ! एनं मृगराजं=सिंहं पश्य=विलोकय । किं कुर्वन्तम् ? खलु=निश्चितं, टीनां=करेणूनाम् आली=राजी ट्याली तस्या बलं=स्थाम तत् स्राक्=शीघ्रं नाशयन्तम् । किम्भूतम् ? दंष्ट्राभिरतिशयेन विडम्बितम्=अलङ्कृतम् आस्यं=मुखं यस्य स तथा तम् । पुनः किम्भूतम ? ट्या=सुरा तया घूर्मितो यः स तथा तम् । पुनः किं० ? सुतरां दृश्यं=विलोकनीयं शौर्यं=पराक्रमो यस्य स तथा तम् । पुनः किं० ? टीनां=गजानाम् ओघस्तस्यारिर्यः स तथा तम् ॥ ४१ ॥

ट्टस्थित ! क्षितिपते ! गजावली,–ट्टारवोत्करविराजिराज्यकम् ।
ट्टेतिशब्दवरटोत्करोत्कर,–ट्टाग्रहस्तित युदेति तस्य डोः ॥ ४२ ॥

हे ट्टस्थित=सिंहासनस्थ ! हे क्षितिपते नृप ! तस्य ते तद् डोः सिंह उदेति=उदयं प्राप्नोति । तस्य कस्य ? यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् यस्य राज्यकं=राज्यं राजत इति शेषः । किम्भूतम् ? गजावल्या यः ट्ट् इति आरवः, तस्योत्करः=वृन्दं तेन विराजि यत्तत्तथा । पुनः किं० ट्टेति शब्दः ? टमिति शब्दम् उत्=प्राबल्येन करोतीति टोत्करः लोके 'टोकरउ' इति प्रतीतिः । ट्टेति शब्देन वरः=श्रेष्ठः ट्टेति शब्दवरः, स चासौ टोत्करश्च ट्टेति शब्दवरटोत्करः, तस्योत्करो=वृन्दं तस्य यत् ट्टं=शब्दविशेषः, तेनाग्राः=श्रेष्ठा हस्तिनो यत्र तत्तथा ॥ ४२ ॥

द्वाक्षिजन्ममुखमुख्यसम्पद,–द्वेन्द्रियायतन ! भूप ! तावकी ।
द्वेव सुप्तिसमये रणे सुखं, ट्टं करोति हरिराजिरेषका ॥ ४३ ॥

हे भूप ! तावकी एषका=एषा हरिराजिः=सिंहावली रणे=सङ्गमे सुखं करोति । किम्भूतं सुखम् ? ट्टं=पुष्टं क्षयाभावात् । कस्मिन् केव ? सुप्तिसमये=शयनकाले ट्वेव=खट्वेव, यथा खट्वा शयनकाले सुखं करोति तथैषाऽपि । किम्भूत हे भूप ! ? ट्वः=अत्रिस्तस्याक्षि=नेत्रं ततो जन्म=जननं यस्य स ट्वाक्षिजन्मा=चन्द्रस्तद्वन्मुखं यस्य स तथा, तदामन्त्रणम् । ट्टं=पुष्टम् इन्द्रियायतनं=कायो यस्य स तथा तदामन्त्रणम् ॥४३॥

ठ्यप्रताप ! वसुधापते ! क्षितौ, ठ्यो मनो हरति ते स्वकौजसा ।
ठ्यं वदन्ति खलु कोविदा इति, ठ्यग्रदर्शनभयङ्करानन: ॥ ४४ ॥

हे ठ्यप्रताप ! दुरसहत्वाद्वह्निसमानप्रताप ! हे वसुधापते भूप ! ते तव मनः ठ्यो=हरिः हरति । केन ? स्वकौजसा=स्वीयबलेन, खलु=निश्चितं कोविदा इति ठ्यं=वाक्यं वदन्ति ठीः=कुटुम्बवान् पुत्रवान् वा, स चासौ अग्रश्च तदामन्त्रणम् ॥ ४४ ॥

ठ्स्वादवच्चित्तमदप्रदः श्री,–ठ्राविह्वलद्वेषिमृगप्रणाशी ।
ठ्रालीद्धकुम्भस्थलदन्तिभेदी, ठ्ह्रादमीष्टे विदधत्सुसिंहः ॥ ४५ ॥

हे नृप ! सुसिंहः ईष्टे । किं कुर्वन् ? ठ्ह्रादं=ठ्मिति शब्दं विदधन्=कुर्वन् । किम्भूतः सुसिंहः ? चित्तमदप्रदः=चेतोहर्षदाता । किंवत् ? ठ्स्वादवत्=मिष्टान्नफलरसास्वादवत् । पुनः किम्भूतः सुसिंहः ? श्रीः=लक्ष्मीः सैव ठ्रा=सुरा तया विह्वला ये द्वेषिणस्त एव मृगास्तान् प्रणाशयतीत्येवंशीलो यः स तथा । पुनः किम्भूतः सुसिंहः ? ठ्राणां=भ्रमरीणां आली=श्रेणिस्तया इद्धः=समृद्धः कुम्भस्थलो येषां ते ठ्रालीद्धकुम्भस्थलाः, ते च ते दन्तिनश्च=गजास्तान् भिनत्तीत्येवंशीलो यः स तथा ॥ ४५ ॥

ट्वार्कणीयगुणगौरवप्रभो !, ट्वेज्यया विगतभूरिवैरिराट् ।
ट्वग्रगीष्पतिमतिक्षितिप्रद !, ट्वग्र ! हर्षयति ते मनो हरिः ॥ ४६ ॥

इति सिंहवर्णनम् ।

हे प्रभो=स्वामिन् ! ते तव मनः हरिर्हर्षयति । किम्भूत हे प्रभो ? ट्वस्य=वसिष्ठर्षेः अर्कणीयं=स्तवनीयं गुणगौरवं यस्य स तथा तदामन्त्रणम् । पुनः किं० ? ट्वेज्यया=कृष्णपूजया विगतभूरिवैरिराट् । पुनः किं० ? ठः=प्रज्ञा तया अग्रः ट्वग्रः, स चासौ गीष्पतिश्च=बृहस्पतिस्तस्य मतिस्तस्याः क्षितिं=क्षयं प्रददातीति तथा तदामन्त्रणम् । ट्वः=धृतिस्तया अग्रः ट्वग्रस्तत्सम्बोधनम् ॥ ४६ ॥

ड्यप्रमुक्त ! वृषरक्त ! कोविदे,–ड्यस्फुरद्गुणगण ! क्रमेलकः ।
ड्यं द्विषां गतिविलोकनात्क्षणाद्, ड्यर्यभक्त ! तनुते महातनुः ॥ ४७ ॥

हे ड्यप्रमुक्त=जाड्यरहित ! वृषरक्त=धर्मनिरत ! कोविदानाम् ईड्यः=स्तवनीयः स्फुरद्गुणगणो यस्य स तथा तदामन्त्रणम् । क्रमेलकः=उष्ट्रः द्विषां=वैरिणां ड्यं=जाड्यं तनुते । कस्मात् ? क्षणात् क्षणमात्रेण गतिविलोकनात् । डिः=गौरी तस्या अर्यः=स्वामी ड्यर्यः=शम्भुस्तस्य भक्तस्तदामन्त्रणम् । किम्भूतः क्रमेलकः ? महातनुः=महाकायः ॥ ४७ ॥

ड्रदायकाऽनीतिमतां जनानां, ड्रमानवव्राजमतल्लिकस्य ।
ड्रनेत्र ! भूपेन्द्र ! तवावनीं स्राक्, ड्रमुख्य आक्रामति केलिकीर्णः ॥ ४८ ॥

हे भूपेन्द्र ! तव केलिकीर्णः=उष्ट्रः स्राक् अवनीम् आक्रामति । किम्भूतः केलिकीर्णः ? ड्रमुख्यः= दूरगामिश्रेष्ठः । किम्भूत हे भूपेन्द्र ! अनीतिमतां जनानां ड्रदायक=दण्डदातः ! किम्भूतस्य तव ? ड्रमानवव्राजमतल्लिकस्य=दक्षमनुष्यनिकरश्रेष्ठस्य । ड्रं=कमलं तत्तुल्ये नेत्रे=लोचने यस्य स तथा तदामन्त्रणम् ॥ ४८ ॥

ड्वामण्डलीमण्डितवक्त्र उष्ट्रो, ड्वो दीप्यते भूप ! तवैष वृद्धः ।
ड्वाभाननाऽतुल्यशरीरदीप्ति,-ड्वीशानडिण्डीरविशुद्धकीर्त्ते ! ॥ ४९ ॥

हे भूप ! तव एष उष्ट्रः दीप्यते । किम्भूत उष्ट्रः ? ड्वामण्डल्या=दाढाश्रेण्या मण्डितं वक्त्रं यस्य स तथा । पुनः किम्भूत उष्ट्रः ? ड्वः=महोदरः । किम्भूत हे भूप ! ? ड्वः=चन्द्रस्तदाभं=तत्सदृक्षम् आननं यस्य स तथा, तदामन्त्रणम् । किम्भूत उष्ट्रः ? अतुल्यशरीरदीप्तिः-अतुल्या=उच्चनीचा शरीरदीप्तिः=कायशोभा यस्य स तथा । किम्भूत हे भूप ! ड्वश्च=चन्द्र ईशानश्च=ईश्वरः डिण्डीराश्च=फेनाः ड्वीशानडिण्डीराः, त इव विशुद्धा कीर्त्तिर्यस्य स तथा, तदामन्त्रणम् ॥ ४९ ॥

ढ्याधीश ! धीश ! विदधातु तव प्रमोदं, ढ्यायुक्त एष करभः शुभलक्षणाढ्यः ।
ढ्याभृद्गुहस्य इव दिव्यकलाकलापा,-ढ्यस्य प्रशस्यबहलश्रिय ईढ्यमूर्तेः ॥ ५० ॥

हे ढ्याधीश=महीश ! हे धीश !=धीनाथ ! एष करभः=उष्ट्रः तव प्रमोदं विदधातु । कस्य क इव ? गुहस्य=स्कन्दस्य ढ्यां=गङ्गां बिभर्तीति ढ्याभृत्=महेशः स इव, यथा महेशः गुहस्य प्रमोदं करोति तथा । किम्भूतः करभः ? ढ्या=रमा बलसम्पदित्यर्थः, तया युक्तः । महेशपक्षे, ढ्या=विभूतिश्रीस्तया युक्तः । पुनः किम्भूतः करभः ? शुभलक्षणाढ्यः, पक्षे श्रेयोलक्षणसमृद्धः । किम्भूतस्य तव ? दिव्यकलाकलापाढ्यस्य, गुहपक्षेऽप्येवमेव । पुनः किम्भूतस्य ? प्रशस्यबहलश्रियः, पक्षेऽप्येवमेव । पुनः किम्भूतस्य ? ईढ्यमूर्तेः, पक्षेऽपीत्थमेव ॥ ५० ॥

ढ्रारिः पथं लङ्घयति क्षणेना,-ऽढ्रो लम्बजङ्घश्च सुदुर्गलङ्घी ।
ढ्राधीश ! भूमीश ! तवैष उष्ट्रो, ढ्रापद्विनिर्मुक्तसमस्तशत्रुः ॥ ५१ ॥

हे भूमीश ! तव एष उष्ट्रः क्षणेन पथं=मार्गं लङ्घयति, पथशब्दोऽकारान्तोऽपि । किम्भूत उष्ट्रः ? ढ्राः=भ्रष्टा नष्टा इति यावत् अरयो यस्मात्स तथा । तथा ढ्रं=फल्गु अभव्यमित्यर्थः, न ढ्रोऽढ्रः=भव्यः सुखकारीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

ढ्लिस्तुल्यलक्ष्मीर्बलवान् क्रमेलो, ढ्लाराट् तव स्वान्तमुदं दधाति ।
ढ्लः केशवस्येव विशालभाल,-ढ्लह्लादराजेन्द्र ! गिरीन्द्रधीर ! ॥ ५२ ॥

हे ढ्लानाथ=भूप ! क्रमेलः=उष्ट्रः ते तव चित्तमुदं दधाति । कस्य क इव ? केशवस्य ढ्ल इव, यथा ढ्लो=गरुडः केशवस्य चित्तमुदं दधाति तथा, किम्भूत हे ढ्लानाथ ! ? ढ्लिः=देवेशस्तस्य स्तुल्या लक्ष्मीर्यस्य स तथा तदामन्त्रणम् ॥ ५२ ॥

द्वाभमद्गुण! गुडाज्यभोजनात्, द्वोजहस्य बलमुष्ट्रकस्य ते।
द्वाभपद्! भवति भूपते! महद् द्वादनाद्, विश इव प्रतिप्रगम् ॥ ५३ ॥

हे भूपते! ते तव उष्ट्रकस्य प्रतिप्रगम्=अतिप्रभातं बलं=स्थाम महद् भवति=जायते। कस्मात्? गुडाज्यभोजनात्। कस्य कस्मादिव? विशः=मनुष्यस्य द्वादनादिव=दधिभोजनादिव, यथा मनुष्यस्य दधिभोजनाद्बलं महद् भवति तथा। किम्भूत हे भूपते!? द्वं=दुग्धं तदाभाः=तत्समाः सन्तो गुणा यस्य स तथा, तदामन्त्रणम्। किम्भूतस्य उष्ट्रकस्य? द्वः=व्यालस्तस्यौजो=बलं हिनस्तीति द्वोजहः, 'डप्रत्ययः' तस्य, ओजशब्दोऽकारान्तोऽपि। किम्भूत भूपते? द्वः=कूर्मस्तदाभौ पादौ यस्य स तथा तदामन्त्रणं हे द्वाभपत्! ॥ ५३ ॥

ण्यानाथगम्भीर! नराधिपाग्र!, ण्यर्च्यांह्वियुग्मोष्ट्र उदाररावः।
ण्यारञ्जितस्फारसभ! प्रभाति, ण्यर्यार्घ्यलक्ष्मी! रिपुहृत्प्रभेदी ॥ ५४ ॥

ण्या=नदी तस्या नाथः समुद्रस्तद्वद् गम्भीरो यः स तथा, तदामन्त्रणं हे ण्यानाथगम्भीर हे नृप! उष्ट्रः प्रभाति। किम्भूत०!? ण्यानां=भूपश्रेष्ठानाम् अर्च्यं=पूजनीयम अंह्वियुग्मं यस्य स तथा, तदामन्त्रणम्। किम्भूत उष्ट्रः? उदाररावः=उत्कटशब्दः। ण्या=वाणी तया रञ्जिता स्फारसभा येन स तथा, तदामन्त्रणम्। णीः=स्वर्गस्तस्यार्यः=स्वामी ण्यर्यः=इन्द्रस्तस्यार्घ्या=स्तुत्या लक्ष्मीर्यस्य स तथा, तदामन्त्रणम्। किम्भूत उष्ट्रः? रिपुहृत्प्रभेदी ॥ ५४ ॥

णापन्महीपारटनेन दस्यून्, णाढ्यांश्च संज्ञापयतीति उष्ट्रः।
णौघप्रदेन प्रमदेन राज्ञा,-ऽणेनोजसा भो! विजिता भवन्तः ॥ ५५ ॥

हे णापत्=नष्टापत् हे महीप! उष्ट्र आरटनेन शब्दविशेषेण दस्यून् इति संज्ञापयति। किम्भूतान् दस्यून्? णाढ्यान्=लक्ष्म्याढ्यान् इति संज्ञापयति। इतीति किम्? भो दस्यवः! भवन्तो विजिताः। केन? राज्ञा। केन? ओजसा=बलेन। किम्भूतेन राज्ञा? णौघप्रदेन=उत्सववृन्ददात्रा। पुनः किम्भूतेन? प्रमदेन=वरहर्षेण गताहङ्कारेण वा। पुनः किम्भूतेन? अणेन=अभीरुणा ॥ ५५ ॥

ण्वाभिभूतरतिनाथ! मानव,-ण्व! द्विषां बलमलं बलाद्धर।
ण्वायुतेति रटति त्वदुष्ट्रको, ण्वर्य! भास्वरचमूसमन्वितः ॥ ५६ ॥

इति उष्ट्रवर्णनम्।

॥ इति श्रीखरतरगच्छीय-श्रीज्ञानविमलोपाध्यायमिश्रशिष्यवाचनाचार्य-
श्रीवल्लभगणिकृते विद्वत्प्रबोधनाम्नि शास्त्रे गजाश्ववृषसिंहो-
ष्ट्रवर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

मानवानां=नृणां ण्वः=स्वामी यः स तथा तदामन्त्रणं हे मानवण्व=हे राजन्! त्वं द्विषां बलम् अलम्=अत्यर्थं बलाद्धर, इति त्वदुष्ट्रको रटति ॥ ५६ ॥

॥ इति प्रथमपरिच्छेदावचूर्णिः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः परिच्छेदः ॥

परिच्छेदे द्वितीयेऽथो, शुकप्रभृतिपक्षिणाम् ।
वर्णनं क्रियते सम्यक्, चरणद्वयधारिणाम् ॥ १ ॥

त्यापते ! तव विजोततेतरां, त्यार्चकप्रवर ! कीर एष कः ।
त्यार्चनोदितविभूतिसन्ततेऽन्त्येतरोत्तर सुनीलदीधितिः ॥ २ ॥

त्या=पृथ्वी तस्याः पतिः त्यापतिः=नृपस्तदामन्त्रणं—हे त्यापते ! तव एषकः एष कीरः विजोतते-तराम्=अतिशयेन दीप्यते । किम्भूत हे त्यापते ! त्याः=गुरवस्तेषामर्चकास्तेषु प्रवरस्तदामन्त्रणम् । पुनः किम्भूत० ! ? त्यः=कृष्णस्तस्यार्चनेनोदिता विभूतिसन्ततिर्यस्य स तदामन्त्रणम् । पुनः किं० ? अन्त्याः= अधमास्तेभ्य इतरे अन्त्येतरे, तेषूत्तरो यः स तदामन्त्रणम् । किम्भूतः कीरः ? सुतरां नीला दीधितिर्यस्य स तथा ॥ २ ॥

त्रातवानशरणाञ् जनान् यकः, त्राणदस्य नृपतेश्च तस्य वै ।
त्रातनुः सुखयति प्रमोददः, त्रातरेष सवयः शुकोऽनकः ॥ ३ ॥

हे सवयः ! =मित्र ! तस्य नृपतेः एष शुकः सुखयति=सुखं करोति, तस्य कस्य ? यको नृपोऽ-शरणान् जनान् त्रातवान्=रक्षितवान् । किम्भूतस्य तस्य ? त्राणदस्य । पुनः किम्भूतस्य तस्य ? त्रातनुः । कष्टाद्रक्षितनरस्य । किंभूत हे सवयः ! त्रातः !=पालक । किम्भूतः शुकः ? प्रमोददः । पुनः किम्भूतः शुकः ? अनकः=दुःखरहितः ॥ ३ ॥

त्वेपते तव महीपते ! शुकः, त्वेष्टुमद्भुतमनोकहं परः ।
त्विट्पटुः पटुकटप्रमोदद !, त्वष्टृसन्करततप्रतापभाक् ॥ ४ ॥

हे महीपते ! तव शुकः त्वेपते=शोभते । किम्भूतः शुकः ? अद्भुतम् अनोकहं=वृक्षं त्वेष्टुं=शोभां परः=सावधानः । पुनः किम्भूतः शुकः ? त्विट्पटुः । किम्भूत महीपते ! ? पटूनां कटं=भृशं प्रमोदं ददाति तदामन्त्रणम् । पुनः किम्भूतमहीपते ! ? त्वष्टृसत्करवत्=सूर्यकिरणवत् ततं=प्रतापं भजते यः स क्विपि, तदामन्त्रणम् ॥ ४ ॥

थ्यर्य ! राजति शुकः सुखकारी, थ्यानिवेदनविशारदमुख्यः ।
थ्यो विशामिव वरो मददायी, थ्यर्कणीयकगभीरसुवर्णः ॥ ५ ॥

हे थ्यर्य=भूनाथ ! शुको राजति, किम्भूतः ? सुखकारी । क इव ? विशां=नृणां थ्य इव=स्वामीव यथा नृस्वामी सुखकारी भवति तथा । किम्भूतः ? थ्या=कथा तस्या निवेदने विशारदास्तेषु मुख्यः । पक्षेऽप्येवमेव; पुनः किम्भूतः ? वरः । पुनः किम्भूतः ? मददायी । पुनः किम्भूतः ? थीः=समुद्रः, स इवार्कणीयको गभीरसुवर्णो यस्य स तथा ॥ ५ ॥

श्रात्मा शुको रञ्जयति प्रधानं, श्रानाथ ! भूनाथ ! मनस्त्वदीयम् ।
श्रार्चाविधानोदितपापशुद्धे, श्रामोददाता विदुषां नराणाम् ॥ ६ ॥

हे भूनाथ ! शुकस्त्वदीयं मनो रञ्जयति । किंविशिष्टः शुकः ? श्रः=पवित्र आत्मा यस्य स तथा । किम्भूतं मनः ? प्रधानम् । किम्भूत हे भूनाथ ! श्रा=लक्ष्मीः राज्यसम्पत्, तस्या नाथस्तदामन्त्रणम् ।

पुनः किम्भत हे भूनाथ ! थ्राणां=तीर्थानाम् अर्चा=पूजा प्रस्तावाद् यात्रा तस्या विधानेनोदिता=आविर्भूता, पापशुद्धिर्यस्य स तथा, तदामन्त्रणम् । पुनः किम्भूतः शुकः ? थं=सुखम् आमोदश्च=हर्षस्तयोर्दाता । केषाम् ? विदुषां नराणाम् ॥ ६ ॥

ध्विन्द्रधी ! नरवीर ! पीवरः, ध्वाऽयुतो जयति तावकः शुकः ।
थ्वीश्वरः प्रवरनीलवर्णरुक्, थ्वाकथाकथनसावधानधीः ॥ ७ ॥

थुः=पर्वतस्तन्मध्ये इन्द्र इव महत्त्वात् थ्विन्द्रस्तद्वद्धीरस्तदामन्त्रणम्–हे थ्विन्द्रधीर !=हे नरवीर ! तावकः शुको जयति । किम्भूतः शुकः ? पीवरः । पुनः किम्भूतः ? न=मैथुनेन थ्वेन युतः=नसहितः थ्वाऽयुतः–अतिकामुकत्वाभावात् । पुनः किम्भूतः शुकः ? थूनां=साक्षिणाम् ईश्वर इव थ्वीश्वरः, तिर्यक्त्वेऽप्यतिनिपुणत्वात् । पुनः किम्भूतः शुकः ? प्रवरनीलवर्णा रुक्=कान्तिर्यस्य स तथा । पुनः किम्भूतः । शुकः ? थ्वानां=स्त्रीणां कथाकथने सावधाना प्रधानत्वाद्धीर्यस्य स तथा ॥ ७ ॥

द्योतमानकलकौशलशाली, द्योततेऽतिचतुरस्तव कीरः ।
द्यामते ! नरपते ! सुमुदोको, द्योपतिस्तुतयशस्सुयशःपते ! ॥ ८ ॥

हे नरपते ! तव कीरः द्योतते । किम्भूतः कीरः ? द्योतमानं यत्कलं कौशलं तेन शालते इत्येवंशीलो यः स तथा । पुनः किम्भूतः कीरः ? अतिचतुरः । किम्भूत हे नरपते ? द्या=दया तत्र मतिर्यस्यासौ तथा तदामन्त्रणम् । पुनः किम्भूत० ? हे सुमुदोकः ! हर्षालय ! ॥ ८ ॥

द्राणशौर्यजयमञ्जुलश्रियो द्रान्ति भूप ! तव दस्यवो भुवः ।
द्रव्यवन्निति निवेदयत्ययं, द्रुप्रिनो वरगिरा शुकोऽपशुक् ॥ ९ ॥

अयं कीर इति निवेदयति । कया ? वरगिरा । इतीति किम् ? । हे भूप ! तव दस्यवो भुवो द्रान्ति=पलायन्ते । किम्भूताः सन्तः ? द्राणशौर्यजयमञ्जुलश्रियः=पलायितप्राणजयश्रेष्ठश्रियः । किम्भूत हे भूप ?=द्रव्यवन् ! । किम्भूतः शुकः ? द्रुप्रिनः=द्रुमनाथः । पुनः किम्भूतः शुकः ? अपशुक्=गतशोकः ॥ ९ ॥

द्वारिकेव हरिणा त्वया पुरी, द्वेषरोपरहिताऽसते सनत् ।
द्वन्द्वहीन ! सुमहीन ! निःस्पृहाऽद्विड् ! गिरेति निगृणाति कीरराट् ॥ १० ॥

कीरराट्=शुकराजः गिरा=वाण्या इति निगृणाति=कथयति । हे सुमहीन शोभन ! भूनाथ ! त्वया कृत्वा पुरी=नगरी सनत्=सदा असते=शोभते, केन केव ? हरिणा=कृष्णेन द्वारिकेव । कथम्भूता पुरी ? द्वेपरोपरहिता, द्वारिकाऽपीदृगेव । किम्भूत० ? हे सुमहीन द्वन्द्वहीन=युद्धरहित ! निःस्पृह ! न द्वेष्टीति अद्विट्, तदामन्त्रणम् ॥ १० ॥

ध्यायतीत्ययकमर्क्यरुक् शुको, ध्यानधीर्जयतु भूपराडसौ ।
ध्याढ्य ! नीतिपरिरञ्जितप्रजो, ध्यातदेवगुरुनामको यतः ॥ ११ ॥

हे ध्याढ्य प्रज्ञाढ्य ! विद्वन् ! अयकम्=अयं शुक इति ध्यायति, इतीति किम् ? असौ भूपराड् जयतु । तत्र हेतुमाह–यतः कारणात् नीतिपरिरञ्जितप्रजः, ध्यातदेवगुरुनामकश्च । किम्भूतः शुकः ? अर्क्यरुक्स्तवनीयकान्तिः । किम्भूतः भूपराड् ? ध्यानधीः ॥ ११ ॥

ध्रायत्यपायैर्विधुरस्त्वदीयो, ध्रातातिचित्तस्तव सौम्यदृष्ट्या ।
ध्राणातिचेतांसि महांसि कुर्वन्, ध्रानाथसार्थस्य महीप ! कीरः ॥ १२ ॥

हे महीप ! त्वदीयः कीरः ध्रायति=तृप्तिं प्राप्नोति । अपायैः=कष्टैर्विधुरः=रहितः । कया ध्रायति ? तव सौम्यदृष्ट्या । पुनः किम्भूतः कीरः ? ध्रातं=तृप्तम् अतिशयेन चित्तं यस्य स तथा । किं कुर्वन् ? ध्रानाथसार्थस्य=राजवृन्दस्य महांसि=उत्सवान् कुर्वन् । किम्भूतानि ? ध्राणं=तृप्तिं प्राप्तम् अतिशयेन चेतो येभ्यस्तानि तथा तानि ॥ १२ ॥

ध्वस्त्वारिसैन्यं विजयी जयत्ययं, ध्वस्ताऽप्रशस्तो नृपतिर्मदीयः ।
ध्वानं करोति प्रमना इतीमं, ध्वाङ्क्षः सुखानामसकौ शुकोऽग्रः ॥ १३ ॥

असकौ शुकः इति=इमं ध्वानं करोति । इतीति किम् ? अयं मदीयो नृपतिर्विजयी सन् जयति । किं कृत्वा ? अरिसैन्यं ध्वस्त्वा । किम्भूतो नृपतिः ? ध्वस्ताऽप्रशस्तः । किम्भूतः शुकः ? प्रमनाः । पुनः किम्भूतः शुकः ? सुखानां ध्वाङ्क्षो=याचकः । पुनः किम्भूतः ? अग्रः ॥ १३ ॥

भ्रेशत्रयोऽस्खलितां हतितोऽयं भ्राधिप ! भूपतिरापति कीर्तिम् ।
भ्रं विदधत्स्वकदेवचयस्य, भ्राभयशा हि शुको वचतीति ॥ १४ ॥

हि=निश्चितं शुकं इति वचति । इतीति किम ? भ्रानां=धनिनाम् अधिपः भ्राधिपस्तदामन्त्रणम्—हे भ्राधिप ! अयं=प्रत्यक्षः भूपतिः कीर्तिम् आपति=प्राप्नोति, कुतः ? अस्खलितांहतितः । किम्भूतो भूपतिः ? भ्रेशजयः—भ्रं=धनं तस्येशः भ्रेशस्तं जयतीति भ्रेशजयः । किं कुर्वन् ? स्वकदेवचयस्य भ्रं=साधनं विदधत्= कुर्वन् । किम्भूतः शुकः ? भ्रः=ईशस्तदाभं यशो यस्य स तथा ॥ १४ ॥

न्यग्भावमाप्तं वदनं रिपूणां, न्युज्झत्प्रतापं सवितेव साये ।
न्यायैकमाणिक्यनिधे ! तवेश !, न्यस्यन्नशस्तं वदतीति कीरः ॥ १५ ॥

॥ इति शुकवर्णनम् ॥

हे न्यायैकमाणिक्यनिधे !=हे ईश ! तव रिपूणां वदनं न्यग्भावं=नीचैस्त्वम् आप्तं=प्राप्तम्, इति कीरो वदति । किं कुर्वन् ? अशस्तम्=अमङ्गलं न्यस्यन्=निक्षिपन् । किम्भूतं वदनम् ? न्युज्झत्प्रतापं= त्यजत्प्रतापम् । कस्मिन् क इव ? साये=सन्ध्यायां सवितेव=सूर्य इव, यथा साये सूर्ये न्युज्झत्प्रतापो भवति तथेदमपीति ॥ १५ ॥ इति शुकवर्णनम् ॥

त्रेश्वर ! स्फुरति सद्यशस्त्वति, त्रावलीति निगृणाति सुन्दरम् ।
त्रायुना जयिजिघांसवो हता,—त्रोत्तमा वदति तित्तिरिस्त्विदम् ॥ १६ ॥

हे त्रेश्वर ! नृप ! त्रावली इति सुन्दरं निगृणाति । इतीति किम् ? तित्तिरिरिदं वदति=शब्दायते । तदेवाह—अमुना त्रा नृपलक्षणेन पुंसा जयिजिघांसवो हताः, इति सद्यशः स्फुरति । किम्भूता जयिजिघांसवः ? नोत्तमाः=मनुष्योत्तमाः । तुशब्दौ पादपूरणार्थौ ॥ १६ ॥

न्वाभाभिभूतस्मररूप ! भूपते !, न्वां चञ्चुरां वाचमसौ समुच्चरन् ।
न्वग्रो जयस्तित्तिरिराहवे तव, न्वालीवियुक्तो वचतीति भावी ॥ १७ ॥

हे भूपते ! हे भूपते ! असौ तित्तिरिरिति वदति । इतीति किम् ? आहवे=सङ्ग्रामे तव जयो भावी=भविता । तित्तिरिः किं कुर्वन् ? न्वां=नव्यां चञ्चुरां=सुन्दरां वाचं समुच्चरन् । किम्भूत हे भूपते ? न्वा=नवा या आभा=शोभा तया अभिभूतं स्मररूपं येन स तथा, तदामन्त्रणम् । किम्भूतो जयः ? न्वग्रः=स्तुतिश्रेष्ठः । किम्भूतस्तित्तिरिः ? न्वालीवियुक्तः=पातकालीरहितः 'नूशब्दः पातके पुंसि' इत्युक्तेः ॥ १७ ॥

प्याढ्यगभीर ! सुतित्तिरिरेष, प्याधिषणाऽवति राज्यश्रीति ।
प्यात्मगुणक्षितिपैतु सुवृद्धिं, प्यग्रसुवाक् शुभभाग् महिमाढ्यः ॥ १८ ॥

हे क्षितिप ! एष सुतित्तिरिः इति अवति=वक्ति कथयतीत्यध्याहार्यम् । इतीति किम् ? अतनु राज्यश्री सुवृद्धिं एतु=प्राप्नोतु । किम्भूत हे क्षितिप ! प्यः=पयस्तेनाढ्यः प्याढ्यः=समुद्रस्तद्वद् गम्भीरः । तत्संबोधनम् । प्याधिषणा=कृपाबुद्धे पयः=पवित्रा आत्मगुणा यस्य स तथा तदामन्त्रणम् । प्यग्रत्रा=लक्ष्मीश्रेष्ठा । किंम्भूतः तित्तिरिः ? सुवाक् शुभभाक् महिमाढ्यः शकुनेषु प्रतीतत्वात् ॥ १८ ॥

प्रष्ठतित्तिरिरयं पुनः पुनः, प्राक्पिञ्जल इति स्वकाभिधाम् ।
प्रीतिदाय्यनुकरोति यो वदन्, प्राप्ति सोऽभिमतमर्थमीश्वर ! ॥ १९ ॥

प्लक्षो यथा नियतदुस्सहरक्तपित्त,-
प्लोपायमानवचयस्य रुजा जितस्य ।
प्लुष्टामयः खलु तथा खरकोणपक्षी,
प्लुष्णन् जनान् भवतु सन्ततसम्मदाय ॥ २० ॥

॥ इति तित्तिरिवर्णनम् ॥

प्वो यथा झटिति हन्ति निस्तुषां, प्वां तथा दुरितसन्ततिं नृणाम् ।
प्वात्मभूप तव राजहंसकः, प्वाः प्रपालक शरीरलोकनात् ॥ २१ ॥
फ्यश्वेतशम्भुसमनिर्मलदेहदीप्तिः, फ्यायुक्त एष विदधाति मुदं मरालः ।
फ्यालीढ्तुल्यरमणीयगभीरताग्रः, फ्यातङ्कदोपरहित ! क्षितिप ! त्वदीयः ॥ २२ ॥
फ्राकर्णनाद् यस्य भवन्ति सिद्धयः, फ्राऽरिष्टकोटिः स्फुटवेकटोऽकटुः ।
फ्रादातरुर्वीश्वर ! सत्सितच्छदः, फ्रासुद्धयं भाति सकः सनत्तव ॥ २३ ॥
फ्लमिव हन्त्वरिवृन्दममङ्गलं, फ्लविशदद्युतिरेष मरालराट् ।
फ्लकलहंसकुलस्य विभूषकः, फ्लकलभाजितचन्द्र ! महीपते ! ॥ २४ ॥
फ्वुपम भूप ! विभात्यनिभासुरः, फ्वनकृत्तव दिव्यसितच्छदः ।
फ्ववसितो सुविचक्षण ! सक्षणः, फ्वितरराडभिधानसुखप्रदः ॥ २५ ॥

॥ इति हंसवर्णनम् ॥

ब्ययुक्तवक्ति क्षितिपासकौ बको, ब्यदीधिते वामपदास्थितः सन् ।
ब्यलार्थपत्नीविषयाप्तिमीक्षितां, ब्यनुत्तमः पापविपाकनाशकृत् ॥ २६ ॥
ब्रषोडशार्चिःस्तवनीयसन्मते ! ब्रयुक् ! चतस्रः ककुभो विलोकयन् ।
ब्रभा बकस्त्रस्त ऋधक् ब्रवीत्यरं, ब्रचोरभीतिं नृपते ! सुखच्छिदम् ॥ २७ ॥
ब्लतुल्यतेजो वसुधां च पान्थकं, ब्लयुक् बकः पश्यति यः पुनः पुनः ।
ब्लकोपटोप क्षितिपाल ! विघ्नकान्, ब्लरूप सर्वानुपहन्ति स क्षणात् ॥ २८ ॥
ब्वबुद्धिजिद्धीः स्ववपुर्निरूपयन्, ब्वभक्त सम्यग् महिलाप्तये भवेत् ।
ब्वमानकोर्वीश ! बको विसंशयो ब्वया प्रदत्तेन्दिरवित्तसद्यशः ॥ २९ ॥

॥ इति बकवर्णनम् ॥

भ्यक्षित्समृद्ध्यै वरकोकयुग्मं, भ्यम्र शस्त्रधारिन् ! स्ववीक्षणाभ्याम् ।
भ्यानुज्ञ विज्ञेश सिमास्पदेषु, भ्युद्धं मुदर्द्धं वदतीति विद्वान् ॥ ३० ॥
भ्रष्टकष्टशकुनज्ञ जनो इति, भ्रान्तिहारिण कृतं निगृणन्त्यरम् ।
भ्राः प्रलाप सविषाददुरारवं, भ्राग्रथाङ्गयुगलं विपदे भवेत् ॥ ३१ ॥
भ्लासते नरपतेऽतिमनोहरं, भ्लासभृद्धतरथाङ्गयुगं तव ।
भ्लासमानतनुकं हृदयावनं, भ्लागभस्तिकृतहृत्प्रमदोदयम् ॥ ३२ ॥

॥ इति चक्रवाकवर्णनम् ॥

भ्वानाथसेवाविधिसावधान ! भ्वीशोल्लसत्सारसयुग्मदर्शः ।
भ्वानन्ददायी भवतीष्टसौख्य,–भ्वैश्वर्यभोक्तः पथिगच्छतो नुः ॥ ३३ ॥
म्यावर्णिनीलाभविधायकं भवेन्म्यायुक्तवामं यदि सारसद्वयम् ।
म्यहारिराजीहर ! भूप ! सारवं, म्याश्वेभमुख्याधिपते महौजः ॥ ३४ ॥
म्रस्तुल्यकीर्ते नृप ! सारसद्वयं, म्रणायुतकं सुकृतार्घं वरम् ।
म्रक्षेण हीनं किल पार्श्वयामले, म्रभ्रष्ट वत्स्युत्तमकन्यकापनम् ॥ ३५ ॥
म्लानाङ्गभासां मनुजाधिनाथ !, म्लानिं गता चक्त्ररमा रिपूणाम् ।
म्लेयादथाशेषविपच्चयश्चा,-ऽम्लानेति ने वक्ति सरोजयुग्मम् ॥ ३६ ॥

॥ इति सारसवर्णनम् ॥

म्वापतेऽध्वनि विशां हि गच्छतां, म्वस्थितस्य खलु वामनिस्वन ! ।
म्वायटिट्टिभपतत्रिणोऽगसे, म्वामयादिरहितेश्वरश्रियः ॥ ३७ ॥
य्यालीकृतस्तोत्रपवित्रचेतो,-ऽय्योर्वीपते ! वै टिटिटीति दीप्तम् ।
य्याक्षेट्टटिटीति प्रवरं च शान्तं, य्योऽस्या रवद्वन्द्वमुदाहरन्ति ॥ ३८ ॥
य्राधिनाथ ! विधिपूजनकर्त्री, य्राऽच्युतोत्तमतनुर्विबुधाली !
य्रिव्रजप्रथितमुद्वहतीति, य्रप्रभ क्षितिप ! टिट्टिभवर्णनम् ॥ ३९ ॥

॥ इति टिट्टिभवर्णनम् ॥

ग्वस्थितिस्थिरमनः शृणु वर्णान्, ग्वाकृतप्रमदमोररवस्य ।
ग्वप्रधाननिनदे प्रथमेऽरि,–ग्वप्रकृद्द्रविणलाभ ऋधक् स्यात् ॥ ४० ॥
ल्योल्लसद्गुणगणप्रमणीनां, ल्यारिहार लभते सुकलत्रम् ।
ल्यालिबान्धवयशोऽपररावे, ल्यग्रबर्हिण इलाप्रतिपाल ! ॥ ४१ ॥
लरस्थिताम्बुदविलोकनहर्षा, लावरञ्जितजनस्य तृतीये ।
लरप्रमोदद ! शिखण्डिन ऋद्ध्य, लरोचिराराव इलापतिभीतिः ॥ ४२ ॥
ह्लानाथ तुग्वाहनकस्य रङ्ग,–ह्लष्टाचलानायक ! चोरभीत्यै ।
ह्लाह्लाददातुःशिखिनः क्षणात्स्या,–ह्लक्ष्मप्रतिज्ञेद्ध्तुरीयरावः ॥ ४३ ॥
ल्वतातनामस्मृतिकान्तचेतो, ल्विनाहिभुक् पञ्चमनिस्वनः स्यात् ।
ल्वभीवये चान्यजनाङ्गनानां, ल्वपूजकानेकजनप्रमोदिन् ! ॥ ४४ ॥
व्यपोहतीलाप्रतिपाल ! दुष्टां, व्यथां च सत्कर्म करोति शीघ्रम् ।
व्ययेन हीनस्य रवश्च षष्ठो, व्युपाधिराट् सर्पभुजो विराजः ॥ ४५ ॥
व्रतीश्वराः शास्त्रविदो वदन्ति, व्रतावना मोररवस्य वर्णान् ।
व्रजद्गुजैतादृशकान् महीपव्रजोत्तमाङ्ग प्रवरावतंस ! ॥ ४६ ॥
श्यत्याशु दुःखं मनसो जनानां, श्याख्यां प्रभाते कथयन्मयूरः ।
श्यामादिवर्णैः शुभपिच्छदीप्तिः, श्यग्रो महीपाल ! सुनीलकण्ठः ॥ ४७ ॥

॥ इति मयूरवर्णनम् ॥

श्रानाथडिण्डीरहिमांशुवर्ण, श्रश्रेष्ठचापः पथि गच्छतो नुः ।
श्रामङ्गलेभ्यः खलु दक्षिणः श्या, श्रग्यग्र भूपाल ! कलानिधान ! ॥ ४८ ॥
श्लोकशौक्ल्यविजिताऽमृतप्रभः, श्लाघनीयककिर्दावि मकर्यभम् ।
श्लाघयन्ति विबुधाः प्रबोधयः, श्लाघ्यपक्षिनिकरेषु सुन्दरम् ॥ ४९ ॥
श्वस्वस्तिकान्तगमनेन चापको,–ऽश्वोपात्तभक्षः करतिप्रदक्षिणात् ।
श्वश्रीप्रदाऽभीष्टसुखार्थलब्धये,–ऽश्वोर्वीपते ! स्याद्धि यदा तदा मुदा ॥ ५० ॥
ष्यौघार्पिताङ्घ्रे ! यदि दक्षिणेन, ष्याऽऽप्रभातम यान्तं किकिदीविमग्र्यम् ।
ष्यानन्द काकश्च जयेत्तदा स्यात्, ष्यग्राग्रणीः पान्थपराजयाय ॥ ५१ ॥
षः स्तौति वाचेति मुदा प्रवक्ति, षेन्द्रप्रतापं नृपतिं विलोक्य ।
षाऽस्पृग्भवन्तं पथि चाप एष, षोद्दामगाम्भीर्ययुजं व्रजन्तम् ॥ ५२ ॥
ष्ट्राऽरिष्टशिष्टप्रतिशिष्टदाष्ट्या,–ऽष्ट्राऽऽच्योथ चापो जयति प्रकाकम् ।
ष्ट्राद्यैः सुधीभिर्विजयो विदेशे, ष्ट्राद्यासनानां कथितोऽध्वगानाम् ॥ ५३ ॥
ष्टिदार्ढ्यशस्त्राहतवैरिवार, ष्टुदोषरोपेश्वर ! चापकस्य ।
ष्टु दानबुद्धे रुतमीक्षणं च, ष्टु चोपदिष्टं सकलास्पदेषु ॥ ५४ ॥

छ्रोऽरण्यवध्ये व्रजतः पुरश्चेत्, छ्रं चापको यो विदधाति दीप्तम् ।
छ्राऽऽभाजिताब्जेट्! कलहावहः स, छ्राः पण्डिता इत्थमुदाहरन्ति ॥ ५५ ॥
स्कंत्ताऽऽपदां क्र क्र इति प्रदीप्तः, स्कन्नापदर्केऽर्के इति प्रशान्तः ।
स्कन्धस्थिरोर्वीश! किकीदिवेश्च, स्कन्दा इति ध्यानयुगं वदन्ति ॥ ५६ ॥

॥ इति चापवर्णनम् ॥

स्खलितदुष्कृत! खञ्जनकं बुधाः, स्खलदलीक! वदन्ति अमूदृशम् ।
स्खलनहीनकयोगयुतं सदा,-स्खलितधीर्मुनिग्रनुमिलापते! ॥ ५७ ॥
स्तुत्योदितेऽगस्त्यमुनौ सुदेशे,ऽग्निमंश्च दृष्ट्वा वर खञ्जरीटम् ।
स्तब्धार! कुर्याद्वरमन्त्रपूजा,-स्तरत्नचिताभीष्टफलस्य सिद्ध्यै ॥ ५८ ॥
स्थान! श्रियां यः कुवपुः कुचेष्टः, स्थास्नो कुदेशे हि निरीक्ष्यतेऽह्नि ।
स्थायिन्! रणे खञ्जनकः कदाचित्, स्थाण्वर्चं दृष्ट्वा परिशोषयेत्तम् ॥ ५९ ॥

स्थान! श्रीसुखपेटकस्य कुवपुः सत्खञ्जरीटः खगः,
स्थास्नो भूप! कुचेष्टितः खलु कुदेशे दृश्यते जातु यः ।
स्थाण्वर्चाविधितत्पराऽमलमते! दृष्ट्वा विशेषाद्धक्,
स्थायिँस्तं परिशोषयेत्तदुदिताऽसौख्यव्रजध्वस्तये ॥६० ॥

॥ इति श्रीखरतरगच्छीयश्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीयश्रीज्ञानविमलोपाध्याय-
मिश्रशिष्य-वाचनाचार्य-श्रीवल्लभगणिकृते विद्वत्प्रबोधनाम्नि शास्त्रे
शुकादि-खञ्जरीटान्तचरणद्वयधारिपक्षिवर्णनो नाम
द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः परिच्छेदः ॥

परिच्छेदे तृतीयेऽथ, यत्यादिजनवर्णनम् ।
क्रियते बुधलोकानां, कुतुकानन्दहेतवे ॥ १ ॥
स्नेहो गेहे च गेहिन्यमितधनचये नास्ति येषां कदापि,
स्नेहिन्नुर्वीश! शश्वद्रुचिरचरितसत्पालनग्रह्वचित्ताः ।
स्निह्यन्तस्ते तपस्सु प्रवरमुनिजनाः साधयन्तीष्टमार्गं,
स्नानश्वेताङ्गदीप्ते नृपजनजनितानन्दभन्दा अमन्दाः ॥ २ ॥

स्पन्दं कुर्वन्त्य उर्व्यां प्रचुरवरनरोदारसारप्रबोधं,
स्पष्टं यच्छन्त्य इष्टं रविरुचय इवाम्भोजवृन्दप्रबोधम् ।
स्पर्शेनानन्ददायिंक्रमणजनघटा भान्ति दुर्भ्रान्तिमुक्ताः,
स्पष्टा दुष्टेष्टचित्तप्रमदविधिपरज्ञानलक्ष्मीशरीराः ॥ ३ ॥

स्फूर्जत्तेजस्विभास्वन्नविरतमतनुश्रेयसां दायकास्ते,
स्फूर्त्तानन्दाः प्रमोदं विदधतु भवतां साधुलोकाः सुलोकाः ।
स्फूर्जन्ति प्राज्ञवर्ण्याः प्रगुणगुणगणा भूतले भूप ! येषां,
स्फूर्त्या चारित्रलक्ष्म्याः प्रविदितयशसः सेवनीया जनानाम् ॥ ४ ॥

स्मरन्त इन्दन्त इमे मुनीन्द्राः, स्मार्यां शुभां पञ्चनमस्कृतिं ते ।
स्मर्यन्त ईशान सुतारमुख्यान्, सेराज्जचक्षुः स्वगुणैर्जयन्ति ॥ ५ ॥

॥ इति साधुवर्णनम् ॥

स्यमीकदातार इव ध्वनन्तः, स्यदेन वादावसरे प्रबुद्धाः ।
स्यान्ताथमार्थास्तव भान्त्यनेके, स्यमन्त उद्दामसुतर्कशास्त्रम् ॥ ६ ॥

स्यायन्तोऽस्ति च नास्ति वस्त्विदमिति प्रत्यक्षमानादिषट्,
स्त्यानोद्दामलसत्प्रमाणकथनप्रह्वाः प्रबुद्धा अमी ।
स्त्यातारो विविधप्रधर्मसुविधेर्धात्रीधवाधाग्रणीः,
स्त्यायन्ति प्रमदोदयादतनुसत्तर्कप्रयुक्तीर्हठात् ॥ ७ ॥

स्रष्टेव सृष्टिं विदधाति दिव्यां, स्राक् शास्त्रगर्जां मतिमत्समूहः ।
स्रक्शोभमानाङ्गरुचिर्वचर्स्वी, स्रस्तातनुस्वीयदुरन्तदुःखा ॥ ८ ॥

स्लक्ष्लाघ्या अघसङ्घसंहतिकृतः, शास्त्रेषु लीना भृशं,
स्लाः पद्मेष्विव भूपते ! तव पुरे राजन्त्यमे पण्डिताः ।
स्लावल्यर्चितपत्प्रहर्षुलसुराचार्योशनो जिष्णवो,-
ऽस्लामौढ्याढ्यविरूढविश्वमहिमाः संरूढगाढावृढाः ॥ ९ ॥

स्वीयस्वीयसुदर्शनेष्वविरतं चञ्चत्प्रतिज्ञा भृतः,
स्वच्छातुच्छगुणावसाननिपुणप्रज्ञा गुणिज्ञानिनः ।
स्वर्वास्याश्रयसन्निभे तव महीनाथाग्रणीः पत्तने,
स्वाढ्यादूढ्यजनप्रियाः शुभचया बौद्धादयो भान्त्यरम् ॥ १० ॥

॥ इति पण्डितवर्णनम् ॥

ह्वोतार आस्कन्दनशुष्मणा स्राक्, ह्वोतव्यदैत्यप्रततेः सुशूराः ।
ह्वव्यं वचो नैव निवेदयन्तो, ह्वत्युन्मनस्त्वां नृपरं जयन्ति । ११ ॥
ह्यङ्कप्रभास्पर्द्धियशोनिधाना, ह्योधार्थितेशार्चनसावधानाः ।
ह्याह्लाददातार उदारसारा,-ऽह्यालीपते ! भूप ! विभान्ति वीराः ॥ १२ ॥

ह्वीणाः सन्तो वनान्तः सततवसति यत्सुशौर्याभिभूत्या,
ह्वीमन्तश्चक्रिरेऽरं प्रचुरतरतरः संयुता एणराजाः ।
ह्वौघस्तंबेरमोक्षव्रजनजययुतास्ते त्वदीया महीश !,
ह्वाऽब्रह्माऽनीयकार्युद्धतमदमथना एत आभान्ति वीराः ॥ १३ ॥

ह्लादन्ते नृपते ! भवन्तमनिशं दुर्दान्तवीरास्तव,
ह्लत्तित्रातयुता अकान्तसमिति स्तोतव्यसत्कीर्तयः ।
ह्लन्नामित्रमनो जनस्तुतलसद्गाम्भीर्यशौर्यादिकान्,
ह्लादन्ते प्रगुणान् गुणान् गुणविदो येषां मुदा बन्दिनः ॥ १४ ॥

ह्वयन्ति वीरा इति यात कुत्र भो !, ह्वयन्त ऋद्धानहितान् मिथो युधि ।
ह्वयान्यया मार्द्दमसङ्गकारिणा, ह्ववैरिवारप्रहृतौ महीपते ! ॥ १५ ॥

क्ष्णुतोत्तमास्त्राभ्यसना बलान्यमी,
क्ष्णुदुत्तमाः क्ष्माप ! तवोल्लसद्भटाः ।
क्ष्णवप्रकर्मप्रवणा नरा इव,
क्ष्णुवन्ति शस्त्राणि हि दीपयन्त्यरम् ॥ १६ ॥

क्ष्मापाल ! वीरास्तव चङ्गभोगान्,
क्ष्मायां प्रभुञ्जन्ति गतापवाहाः ।
क्ष्माधृत्समानाः सुकुले कुलीनाः,
क्ष्मावर्णिनीभालसुवर्णकाभाः ॥ १७ ॥

क्ष्मानाथ ! युष्मत्पदपद्मसेवां,
क्ष्ययग्राङ्ग ! कुर्वन्ति भटाः पटिष्ठाः ।
क्ष्यश्वेतचित्तेन दृढप्रतिज्ञाः,
क्ष्यात्यदुस्सह्यतपत्प्रतापाः ॥ १८ ॥

क्षं विद्विषां द्वेषजुषां नृपाणां,
क्षाज्ञाप्रतिज्ञेश्वर ! कुर्वतेऽमी ।
क्षाढ्या भटा नष्टनिघृष्टदुष्टाः,
क्षं पाथसां जीवनदा इवेभ्याः ॥ १९ ॥

क्ष्वेडन्त एते त्वयि भूप ! वीराः,
क्ष्वेडोपमा वैरिकरिप्रणाशे ।
क्ष्विड्ढोत्कटश्रेष्ठसुकृष्टिलोकाः,
क्ष्विद्यत्मदो भन्दविधानदक्षाः ॥ २० ॥

॥ इति वीरवर्णनम् ॥

ईदृग् विभो ! प्राणिगणस्त्वदीयो, वर्ण्यो बुधानामिह वर्णितोऽयम् ।
संयुक्तवर्णैः कविकौतुकाय, स्वबोधवृद्ध्यै च विशुद्धबुद्ध्या ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीखरतरगच्छीयश्रीजयसागरमहोपाध्यायसन्तानीयश्रीज्ञानविमलोपाध्यायमिश्रशिष्यवाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिकृते विद्वत्प्रबोधनाम्नि शास्त्रे यत्यादिवीरान्तजनवर्णनो नाम तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ ग्रन्थप्रशस्तिः ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं श्रीविद्वत्प्रबोधनामा ग्रन्थः ॥
श्रीज्ञानविमलोपाध्यायानां शिष्यैर्विनिर्ममे ।
वाचनाचार्यधुर्यश्री,–श्रीवल्लभगणीश्वरैः ॥ १ ॥

विद्वत्प्रबोधनामाऽयं, ग्रन्थो विद्वत्प्रबोधकृत् ।
स्फूर्जच्छ्रीबलभद्रे श्रीबलभद्रपुरे वरे ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां संजातायां प्रयोजनम् ।
एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्य,–भिमानोन्मथनाय वै ॥ ३ ॥

संयोगिवर्णं निगृणाति विद्वान्, योऽयं तमादौ च विधाय विद्वान् ।
दिव्येषु पादेषु चतुर्ष्वशङ्कः, सद्यः सुपद्यं विदधातु हृद्यम् ॥ ४ ॥

यस्यायमेति सुमुखे, सुखेन लभतां स सत्वरं सभ्यः ।
विद्वज्जनेषु विद्वान्, सौभाग्यौघं कवित्वं च ॥ ५ ॥

यस्मिन् काव्येऽस्ति यन्नाम,–व्यत्ययात्तस्य सत्वरम् ।
यथोक्तवर्ण्यस्य सञ्ज्ञाख्या, तदा जायेत भो बुधाः ! ॥ ६ ॥

॥ इति श्रीविद्वत्प्रबोधशास्त्रं समाप्तम् ॥

श्रीरत्नसुन्दरगणिरचितं

अष्टोत्तरशतनामनिबद्धजेसलमेरुमण्डनं

श्रीपार्श्वनाथस्तवनम् ।

श्रीमत्पार्श्वः सुखं कुर्यात्परब्रह्मप्रकाशकः । परमेष्ठी परेशानः परादित्यः परापरः ॥ १ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशः स्वयंभूः सर्वतोमुखः । अप्रमेयो मनोध्येयो मनोदृश्यः शिवात्मकः ॥ २ ॥

ध्यानलक्ष्यो मनःसाध्यः शिवश्रीसौख्यदायकः । परमात्मा प्रमोदात्मा परमः परमेश्वरः ॥ ३ ॥

जगद्गुरुर्जगन्नाथो योगीनाथः सदाशिवः । विश्वेश्वरोऽव्ययोव्यक्तरूपोऽव्यक्तः शुभप्रदः ॥ ४ ॥

सर्वगः सर्वदेवेशः सर्वसिद्धिप्रदायकः । सर्वदर्शी स्वयंसिद्धः श्रीनिवासः सुधार्णवः ॥ ५ ॥

सर्वज्ञः श्रीकरः स्वामी सर्वविघ्नहरोऽरुजः । व्योमाकारस्वरूपोऽनः सर्वदेवमयो जिनः ॥ ६ ॥

भगवान सर्वसत्त्वेशः सर्वतीर्थमयः शिवः । सर्वव्यापीश्वरः सर्व-कामदः परमाक्षरः ॥ ७ ॥

सर्वसत्त्वहितः शान्तः शरण्यः सकलोऽकलः । लोकालोकमयोऽलक्ष्यो निर्विकल्पो निरामयः ॥ ८ ॥

नित्यधर्मो निर्विकारो निराकारो निरंजनः । साकारो निर्ममोऽनंतो भूतेशः पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥

सुरज्येष्ठः सुरेंद्रोऽर्हन् परप्राणः सनातनः । ॐकाराकृतिः परमः शंकरः परमार्थदः ॥ १० ॥

ब्रह्मद्वयप्रकाशात्मा निर्भयो बोधिदो विभुः । दिव्यतेजोमयो देवदेवः शांतस्त्रयीमयः ॥ ११ ॥

तत्त्वमूर्त्तिः सर्वात्मैको नेकोऽनाद्यस्त्रिकालवित् । परमानंददः परमशक्तिस्तीर्थकरप्रभुः ॥ १२ ॥

परमेंदुश्चिदानंदामयस्तीर्थकरोऽनघः । आद्य आप्तो ध्रुवः सार्वोऽचलोऽचिंत्यो महाव्रती ॥ १३ ॥

सर्वोत्कृष्टः स्फुरद्रत्न-निधानस्य जगद्गुरोः । दिव्यमष्टोत्तरं नाम शतं पार्श्वजिनेशितुः ॥ १४ ॥

ये पठंति प्रतिप्रातः पवित्रीभूय पुरुषाः । तेषां मंगलमालाः स्युः सुविशालाः पदे पदे ॥ १५ ॥

यक्षराक्षसवेतालशाकिनीडाकिनीमुखाः । सुरामिथ्यादृशोऽन्येऽपि भूचराः खेचराः परे ॥ १६ ॥

दौष्ठवं संपरित्यज्य भजंते सौष्ठवं सदा । येषां कंठे स्थिता पार्श्व-नाममालास्त्वहर्निशम् ॥ १७ ॥

अपुत्री लभते पुत्रा-न्निर्द्धनी लभते धनम् । असुखी सुखमाप्नोति पार्श्वनामस्मृतेर्नरः ॥ १८ ॥

इत्यसलवीर्ज्जेसलमेरुमंडनं पार्श्वं सदा संकटकोटिखंडनम् ।
वम्मांगजातं वरभक्तिसुंदरः सर्वर्द्धिगेहं गणिरत्नसुन्दरः ॥ १९ ॥

इत्यष्टोत्तरशतनामनिबद्धश्रीजेसलमेरुमंडनश्रीपार्श्वनाथवृद्धस्तवनम् ।
कृतं श्रीसंग्रामपुरे सं० १६६९ ॥ श्रावणिकमासचतुर्दश्याम् ॥